ट्रेड यूनियन शिक्षा

व्याख्यान टिप्पणियाँ

[तीसरा भाग]

ए० बी० बर्धन

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर-302001

TRADE UNION EDUCATION
का हिन्दी अनुवाद

एटक (आखल भारताय ट्रड यूनयन काग्रस)
के सहयोग से प्रकाशित

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिग हाउस (प्रा०) लि०
चमेलीवाला मार्केट, एम० आई० रोड,
जयपुर-302001

1988 (RPPH-37)

मूल्य : 5.00

भारती प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित तथा रामपाल द्वारा
राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिग हाउस (प्रा०) लि०, जयपुर की ओर से प्रकाशित

विषय-सूची

तीसरे भाग का प्राक्कथन	5
21. असंगठितों को संगठित करो : संगठित बनाम असंगठित क्षेत्र	7
22. असंगठितों को संगठित करो : बाल एवं महिला मज़दूरों को	16
23. असंगठितों को संगठित करो : संगठित मज़दूरों की भूमिका	27
24. नयी प्रौद्योगिकी : इसके क्या मायने हैं	34
25. नयी प्रौद्योगिकी का असर : भिन्न सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में	43
26. भारतीय ट्रेड यूनियनें और नयी प्रौद्योगिकी	55
27. निजीकरण के ख़िलाफ़ संघर्ष : सार्वजनिक क्षेत्र की रक्षा तथा विस्तार के लिए	64
28. ट्रेड यूनियन एकता के लिए संघर्ष	72
29. आज की दुनिया में मज़दूर वर्ग की भूमिका	80

तीसरे भाग का प्राक्कथन

ट्रेड यूनियन शिक्षा के इस तीसरे भाग में नौ पाठ हैं, जिसे एटक द्वारा प्रकाशित किया गया है। दिसंबर 1986 में वडोदरा अधिवेशन के समय पहले तथा दूसरे भाग को एक साथ प्रकाशित किया गया था।

ट्रेड यूनियन क्रिया-कलाप विविध तथा बहुआयामी होते हैं। इस पुस्तिका में कई पहलुओं पर विचार नहीं किया गया है। संभव है कि अपने अनुभवों तथा ज़रूरतों के आधार पर बाद में हम ऐसा करें। मुख्य बात यह है कि ट्रेड यूनियन शिक्षा के काम को विभिन्न स्तरों पर तथा तमाम केंद्रों में गंभीरता से आगे बढ़ाया जाय।

ट्रेड यूनियन शिक्षा का काम हमारे सक्रिय कार्यकर्ताओं को वर्ग-आधारित सिद्धांत के मूलभूत तत्वों को समझाना है। ट्रेड यूनियन शिक्षा के मूलतत्व पहले-पहल ट्रेड यूनियन आंदोलन के दौरान ही अर्जित होते हैं। आंदोलन जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है इसमें भाग लेने वालों को लगातार शिक्षित भी करता जाता है। सिद्धांत की शिक्षा को इसलिए ट्रेड यूनियन आंदोलन के व्यवहार से जोड़े जाने की ज़रूरत है। इसी से ट्रेड यूनियन संघर्षों की माँगों तथा कार्य-भारों के साथ हमारे शिक्षा कर्म को जोड़े जाने की ज़रूरत भी निर्धारित होती है।

हमारे शैक्षिक कार्य की कसौटी यह है, तथा होनी चाहिए कि हमारे क्रिया-कलाप में, हमारे व्यवहार में, मज़दूर कार्यकर्ताओं की वर्ग-चेतना के स्तर को ऊपर उठाने में उल्लेखनीय सुधार हो। ट्रेड यूनियन के आम सदस्यों की प्राथमिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए—उसके बुनियादी अनुभव को सामान्यीकृत करके उसकी वर्ग-दृष्टि निर्मित करनी चाहिए।

जैसे-जैसे हमारे शैक्षिक क्रिया-कलाप मात्रा एवं क्षेत्र की दृष्टि से विस्तृत होते जायेंगे हमें शिक्षा के तरीक़ों तथा विधियों आदि के बारे में भी सवालों का सामना करना पड़ेगा। एटक नेतृत्व निश्चय ही सही समय पर इन सवालों के समाधान प्रस्तुत करेगा।

हमें उम्मीद है कि ट्रेड यूनियन कक्षाओं के 'शिक्षक', 'विद्यार्थी' तथा अन्य

अग्रणी ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता हमें यह बतायेंगे कि इन व्याख्यान टिप्पणियों ने उनकी कितनी सहायता की है तथा यह भी कि इन्हें सुधारने के लिए वे क्या परिवर्तन अथवा संशोधन सुझाना पसद करेंगे।

1-8-87 —**ए० बी० बर्धन**

पाठ : 21

असंगठितों को संगठित करो : संगठित बनाम असंगठित क्षेत्र

—एटक के बँगलौर अधिवेशन (दिसंबर 1983) ने प्राथमिकता के आधार पर कार्य-भार निर्धारित करते हुए 'असंगठित को संगठित करने' का नारा दिया। वडोदरा अधिवेशन (दिसंबर 1986) में भी इसे दोहराया गया है। कुछेक स्थानों पर इस कार्य-भार की ओर सचेतन ध्यान दिया भी जाने लगा है। इस सिलसिले में कुछ उपलब्धियाँ भी हुई हैं, पर वे इस कार्य-भार की विशालता को देखते हुए नगण्य हैं। सबसे पहले तो हमें हमारे श्रम-बल (मेहनतकश-शक्ति) के बारे में, उसके भीतर असंगठितों की तादाद तथा उसके उपयुक्त अब तक प्राप्त संघटन-स्तर के बारे में संक्षिप्त तथ्यात्मक जानकारी हासिल कर लेनी चाहिए।

—जैसाकि पहले भाग के पाठ-5 में बताया गया है, हमारे देश के पास क़रीब 26 करोड़, 9 लाख मेहनतकश आबादी है जिसमें से क़रीब 10 करोड़, 5 लाख मेहनताना व वेतनभोगी हैं, तथा 16 करोड़, 4 लाख स्व-नियुक्त हैं। स्व-नियुक्तों में 12 करोड़, 81 लाख खेतिहर हैं तथा 3 करोड़, 23 लाख ग़ैर-खेतिहर हैं। मज़दूरी तथा वेतनभोगियों पर ही ध्यान दें, तो यह तस्वीर सामने आती है :

		योग
संगठित क्षेत्र		2 करोड़, 48 लाख
सार्वजनिक क्षेत्र	1 करोड़, 50 लाख	
निजी क्षेत्र	98 लाख	
असंगठित क्षेत्र	—	7 करोड़, 57 लाख
खेतिहर मज़दूर	5 करोड़, 83 लाख	
ग़ैर-खेतिहर मज़दूर	1 करोड़, 14 लाख	
अन्य	60 लाख	

स्व-नियुक्त लोग (अधिकांश खेतिहर) कुल मज़दूरी-वेतनभोगियों से डेढ़ गुना अधिक हैं। लेकिन यह बात ग़ौर करने लायक है :

संगठित क्षेत्र की तुलना में असंगठित क्षेत्र में रोज़गार तीन गुना अधिक है। मेहनतकश आबादी का 10 प्रतिशत से भी कम हिस्सा संगठित क्षेत्र में आता है।

—हमने संगठित तथा असंगठित क्षेत्रों की दृष्टि से ही समस्या पर नज़र डाली है। रोज़गार के ऐसे भी क्षेत्र हैं जो छितरे हुए हैं, जो सूचीबद्ध नहीं हैं, पंजीकृत नहीं हैं और इसलिए असंगठित हैं। ज़ाहिर है, रोज़गार के इन क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्तियों को संगठित करने का काम, संगठित उद्योगों तथा सेवाओं में काम करने वालों की तुलना में, अनेक कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है। लेकिन समस्या का एक अन्य पहलू भी है : कुल श्रम-बल का तथा कुल ग़ैर-खेतिहर कार्य-बल का (ट्रेड यूनियनों में) संघटन-स्तर क्या है? 1981 की जनगणना से निम्न-लिखित आँकड़े प्राप्त होते हैं (यहाँ यूनियनीकरण का स्तर संगठित तथा असंगठित दोनों ही क्षेत्रों से संबंध रखता है, हालाँकि मुख्य रूप से, बेशक संगठित क्षेत्र में ही यूनियनें बनाने के काम को देखा जा सकता है) :

कुल श्रम-बल	24 करोड़, 46 लाख
कुल ग़ैर-खेतिहर श्रम-बल	6 करोड़, 68 लाख
यूनियनों की कुल सदस्यता	77 लाख
—यूनियनों में कुल श्रम-बल का प्रतिशत	3 प्रतिशत
—यूनियनों में ग़ैर-खेतिहर श्रम-बल का प्रतिशत	11.5 प्रतिशत

—यूनियनों में शामिल, और इसीलिए, संगठित मज़दूरों का प्रतिशत बेहद कम है। संगठित क्षेत्र की तुलना में, असंगठित क्षेत्र में यह प्रतिशत और भी कम है। उदाहरण के लिए, बंबई शहर में, जहाँ देश के अन्य स्थानों की तुलना में, यूनियनीकरण कहीं अधिक ऊँचा माना जाता है, श्रम-बल का 45 प्रतिशत से अधिक हिस्सा किसी भी यूनियन के दायरे के बाहर है। ये असंगठित मज़दूर, आमतौर से निर्माण स्थलों, औद्योगिक इकाइयों, दूकानों व प्रतिष्ठानों तथा होटलों से संबद्ध हैं। इस अनुमान में स्व-नियुक्त लोगों की वह विशाल संख्या शामिल नहीं है जहाँ किसी भी प्रकार के मालिक-कर्मचारी संबंध नहीं हैं।

—असंगठित क्षेत्र में बड़ा भाग खेतिहर मज़दूरों का है। ऊपर दी गयी, मौजूदा संख्या 5 करोड़, 83 लाख में हर साल क़रीब 10 लाख की बढ़ोत्तरी हो जाती है—न केवल प्राकृतिक वृद्धि के कारण बल्कि ग़रीब किसानों की बढ़ती हुई कंगाली (मुफ़लिसी) के कारण भी। देहात में रोज़गार न होने से दसियों हज़ार लोग—समूचे परिवार—चाहे कुछ समय के लिए अथवा सदा-सर्वदा के लिए अपना घर-बार छोड़ने को तथा शहरों में जाकर नौकरी खोजने को, या जिन राज्यों में (जैसे बिहार के लोग पंजाब चले जाते हैं) खेती से जुड़े काम उपलब्ध

हों वहाँ चले जाने के लिए मजबूर होते हैं। और कभी कोई 'प्राकृतिक विपदा' आन पड़े, तो देहात छोड़ने वालों का जैसे सैलाब ही उमड़ आता है।

—खेतिहर मज़दूर देश में सबसे अधिक शोषितों की श्रेणी में आते हैं। राज्य सरकारों द्वारा तय की गयी न्यूनतम मज़दूरी दरें बेहद असंतोषजनक हैं। कुछ राज्यों में जहाँ ये दरें थोड़ी-बहुत ऊँची हैं, वहाँ इन्हें व्यवहार में लागू नहीं किया जाता। दरअसल लागू करने वाले तंत्र जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। न्यूनतम दरें काग़ज़ पर ही धरी रह जाती हैं, तथा हर इलाक़े में मौसमी सोच-विचार, सापेक्ष माँग, स्थानीय संगठन (यदि कोई हो तो) के स्तर तथा सबसे ऊपर, ज़मींदारों तथा धनी किसानों की कृपा असली मज़दूरी को निर्धारित करती है। इस पर भी इस संदर्भ में विचार किया जाना चाहिए कि खेतिहर मज़दूरों—उनकी उस नगण्य-सी संख्या को छोड़ दें जिसे पूरे साल के हिसाब से काम मिलता है तो—को कृषि-कार्य में पूरे साल में 120 से 150 दिन (यानि अधिक-से-अधिक 5 महीना) से अधिक काम पर नहीं रखा जाता। उनमें से जिनके पास ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं, वे बेहद अलाभकारी तथा ख़र्चीली खेती में संलग्न रहते हैं ताकि अपनी दयनीय आमदनी में कुछ इज़ाफ़ा कर सकें। सघन खेती वाले बारहमासी सिंचित क्षेत्रों में मज़दूरी की दरें कुछ बेहतर होती हैं, पर ये क्षेत्र स्थानिक तथा सीमित हैं।

—सरकार द्वारा अधिसूचित मौजूदा न्यूनतम मज़दूरी की दरों पर ग़ौर करें तो ये हरियाणा में सबसे अधिक (19 रु० 25 पैसा प्रतिदिन) तथा महाराष्ट्र में सबसे कम (6 रु० प्रति दिन) हैं। हाल ही में, 20-21 मई, 1987 को, केंद्र तथा राज्यों के श्रम मंत्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें असंगठित मज़दूरों की (ख़ासकर खेतिहर मज़दूरों की) न्यूनतम मज़दूरी दरों को संशोधित करने तथा उनके कारगर क्रियान्वयन पर विचार किया गया। उनकी दुर्दशा पर ख़ूब आँसू बहाने, तथा नेक इरादों की घोषणा करने के बाद सम्मेलन ने यह सिफ़ारिश की कि सभी राज्यों में अकुशल खेतिहर मज़दूर की न्यूनतम दैनिक मज़दूरी 11 रु० की जाये। आज असलियत यह है कि पाँच राज्यों को छोड़कर (महाराष्ट्र—6 रु०; कर्नाटक—9 रु० 50 पैसे; बिहार—10 रु०; उड़ीसा—10 रु० तथा मध्यप्रदेश—10 रु० 50 पैसे) अन्य सभी राज्यों में पहले से ही इससे अधिक न्यूनतम मज़दूरी स्वीकृत है। प्रस्तावित न्यूनतम दर हर दो साल में अथवा उपभोक्ता मूल्य सूचकांक में 50 अंक की वृद्धि हो जाने पर—इन दोनों में से जो भी पहले हो जाये—संशोधित होगी। (प्रसंगवश खेतिहर मज़दूर-परिवारों के बजट पर उपभोक्ता मूल्य सूचकांक का असर सही मायने में प्रतिबिंबित नहीं होता क्योंकि उसमें (परिवार के बजट में) भोजन तत्व प्रमुख होता है—देखें दूसरे भाग में पाठ 13)।

—इससे पूर्व 1981 में ही, पिछले श्रम मंत्रियों के सम्मेलन ने ग़रीबी की रेखा से ऊपर न्यूनतम मज़दूरी तय करने की सिफ़ारिश की थी। ख़ुद सम्मेलन ने

हिसाब लगाकर यह कहा था कि इस लिहाज़ से न्यूनतम मज़दूरी 19 रु० होनी चाहिए और वह भी इस प्रावधान के साथ कि उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (कृषि) से परिवर्तनशील महँगाई भत्ता जोड़ दिया जाये। आधुनिक फ़ार्मों पर काम करने वाले कुशल मज़दूरों के लिए मज़दूरी की दरें और ऊँची होनी चाहिए। 6 साल बाद, तथा 'बीस-सूत्री कार्यक्रम' के दो संस्करणों के बाद भी, सरकार 11 रु० प्रतिदिन के हिसाब से न्यूनतम मज़दूरी तक पहुँच पायी है। तो इतना फ़ासला तय हुआ है। पिछले 6 सालों में, तथा यह हश्र हुआ है खेतिहर मज़दूरों की दशा सुधारने के बारे में (सरकार की) गंभीर चिंता का !

—राज्य सरकारों पर ज़मींदारों तथा धनी किसानों की पकड़ कितनी ज़बर्दस्त है, यह इस एक उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है : 'प्रबुद्ध' महाराष्ट्र सरकार ने श्रम मंत्रियों के सम्मेलन में घोषणा की कि महाराष्ट्र में कोई भी स्वस्थ-समर्थ ग्रामीण 'रोज़गार गारण्टी योजना' के अंतर्गत काम पाने का हक़दार है तथा परिवार में दो सदस्यों (पति-पत्नी) की संयुक्त आय 12 रु० प्रति दिन हो जाती है। यह भी बताया गया कि बच्चे तक रोज़गार गारण्टी योजना कार्यों में भाग लेते हैं और उनकी कमाई भी उक्त राशि में जुड़ जाती है। केन्द्रीय श्रम मंत्री ने बिना समय गँवाये महाराष्ट्र सरकार की तारीफ़ के पुल बाँध दिये और यह तक प्रमाण-पत्र दे डाला कि दरअसल यह तो प्रस्तावित न्यूनतम से भी अधिक था।[1] श्रम मंत्री ने यह सोचने-समझने तक की ज़हमत नहीं उठायी कि न्यूनतम मज़दूरी का संबंध एक व्यक्ति से होता है, न कि समूचे परिवार की संयुक्त कमाई से। यही नहीं, 1971 की जनगणना के अनुसार, प्रत्येक काम करने वाले के पीछे दो आश्रित थे; और निकट भविष्य में इस अनुपात में कोई कमी आने की संभावना नहीं दिखती थी। और फिर यह दावा भी कि प्रत्येक स्वस्थ-समर्थ व्यक्ति—पति-पत्नी—6 रु० प्रति

---

1. न्यूनतम मज़दूरी के रूप में 11 रु० मात्र तय किये जाने पर तीखी प्रतिक्रिया करते हुए, महाराष्ट्र विधान परिषद के भूतपूर्व सभापति तथा सरकारी राज्य रोज़गार गारण्टी योजना मंडल के मौजूदा अध्यक्ष वी० एस० पेज ने कहा, "महाराष्ट्र सरकार ने केन्द्र सरकार को यह सुझाव दिया था कि उतनी ही राशि—यानी 8 रु० प्रति दिन—तय की जाये जोकि जीवित रहने के लिए एकदम काफ़ी हो। फिर केन्द्र सरकार ने 11 रु० क्यों तय किया है ? जीवित रहने के लिए जो ज़रूरी है उससे अधिक राशि तय करने के गम्भीर (ख़तरनाक) परिणाम होंगे। कृषि इस बोझ को बर्दाश्त नहीं कर सकती। अत: उसे किराये के मज़दूरों के बिना ही काम चलाना होगा।"

(महाराष्ट्र टाइम्स : 26 मई 1987)

इस पर क्या किसी टिप्पणी की गुंजाइश बचती है ?

दिन कमा लेता है, कपोल-कल्पना ही दिखायी देता है।

—जहाँ तक न्यूनतम मज़दूरी दरें लागू करवाने तथा महिला मज़दूरों (जो श्रम-बल का 40 प्रतिशत गठित करती हैं) के संबंध में समान पारिश्रमिक क़ानून के लागू किये जाने को सुनिश्चित करने वाले प्रवर्तन तंत्र का सवाल है, जितना कम कहा जाये उतना ही ठीक रहेगा। मध्यप्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा तथा मणिपुर जैसे राज्यों में इस काम के लिए मार्गदर्शी (प्रायोगिक) आधार पर जिन 200 निरीक्षकों को नियुक्त किया जाना था, अप्रैल 1987 तक केवल 150 को नियुक्त किया गया है।

—हम न्यूनतम मज़दूरी के वास्तविक आँकड़ों (निर्धारित अथवा वास्तव में अर्जित) अथवा प्रवर्तन तंत्र को लेकर उतने चिंतित नहीं हैं, जितने कि इन दयनीय हालात के मूल कारणों को लेकर चिंतित हैं। ये कारण कौन-से हैं? राज्य तंत्र, जिस पर दरअसल शोषक वर्गों का प्रभुत्व बना हुआ है, की इस मामले में कुछ भी करने की अनिच्छा के अलावा, **जो प्रमुख कारण है देश भर में देहाती सर्वहारा के मध्य संगठन का घोर अभाव**। खेत मज़दूरों की संगठित शक्ति तथा उग्र संघर्षों के ज़रिये ही मज़दूरी की दरों में आम बढ़ोतरी हो सकती है, सरकार को उचित दरें (ग़रीबी रेखा स्तर से नीचे नहीं) निर्धारित करने के लिए बाध्य किया जा सकता है तथा इन दरों तथा अन्य संबंधित क़ानूनों के क्रियान्वयन को सुनिश्चित किया जा सकता है। मात्र इसी से केरल सरकार द्वारा बनाये गये क़ानून को आधार बनाकर केंद्र सरकार से भी वैसा ही क़ानून बनवाया जा सकता है, जिसमें निम्नलिखित प्रावधान होंगे: (1) पेंशन तथा कुछ मात्रा में अन्य सामाजिक सुरक्षा; (2) महिला मज़दूरों को समान मज़दूरी तथा मातृत्व सुविधाएँ; (3) हरेक मज़दूर को न्यूनतम मज़दूरी के भुगतान पर आधारित रोज़गार गारण्टी योजना; तथा (4) ट्रेड यूनियन अधिकार, तथा प्रशासन व उसकी पुलिस की मिलीभगत से क्रियाशील ज़मींदारों की निजी (गुंडों की) फ़ौज द्वारा किये जाने वाले हमलों से रक्षा, आदि। **केवल इस तरह का संगठन ही अनेक दूर-दराज़ तथा पिछड़े हुए इलाक़ों में**—और कभी-कभी तो महानगरों के इर्द-गिर्द भी, ख़ासकर ईंटों के भट्टों तथा खदानों पर काम करने वालों के बीच से—**प्रचलित बँधुआ मज़दूरी के अभिशाप से मुक्ति दिला सकता है**। प्रशासन द्वारा बँधुआ मज़दूरों को पुनर्स्थापित किये जाने से संबंधित दावे तो सरासर झूठे साबित हो ही चुके हैं, और 'मुक्त' बँधुआ मज़दूर वापस दासता में सरक गये हैं। अधिकारियों को सर्वोच्च न्यायालय के हाल ही के इस फ़ैसले का अहसास तक नहीं है कि न्यूनतम मज़दूरी से वंचित किसी भी व्यक्ति को बँधुआ मज़दूर माना जायेगा। ज़िला अधिकारी बँधुआ मज़दूरों की पहचान करने के मामले में इस आधार पर लाचारी जताते हैं कि वे इन मज़दूरों की कर्ज़दारी तथा

न्यूनतम मज़दूरी से इन्हें वंचित किये जाने को, साक्ष्य के अभाव में, सिद्ध कर पाने में असमर्थ हैं।

—सितंबर 1968 में भारतीय खेत मज़दूर यूनियन की स्थापना खेतिहर मज़दूरों को संगठित करने की दिशा में एक सकारात्मक (ठोस) क़दम था। इसके छठे अधिवेशन के बाद इसकी सदस्य संख्या 10 लाख के नज़दीक पहुँच गयी है। इसकी स्थानीय एवं राज्य इकाइयाँ एटक से संबद्ध हो रही हैं। सीटू, हिंद मज़दूर सभा तथा इंटक जैसे अन्य केंद्रीय ट्रेड यूनियन संगठनों ने भी खेतिहर मज़दूरों के संगठन क़ायम किये हैं। यहाँ-वहाँ कुछेक स्थानीय असंबद्ध संगठन भी उठ खड़े हुए हैं। विभिन्न रंगों के स्वैच्छिक संगठन (जिनमें से कुछ का—सबका तो नहीं—तो पूर्ववृत्त, इतिहास, ही काफ़ी संदेहास्पद है) भी मौजूदा खालीपन का लाभ उठाकर क्रियाशील हैं। हाल की अवधि में, उनकी माँगों को लेकर स्थानीय एवं राज्य-स्तर तक पर कई उग्र आंदोलन तथा संघर्ष छेड़े गये। देहाती शोषित जन-समूहों को ज़मींदार हलक़ों के क्रूर प्रतिशोध का तथा कड़े पुलिस दमन का सामना करना पड़ा है। जातिगत झगड़ों (विरोधों) को हवा दी गयी है तथा उनका इस्तेमाल देहाती ग़रीबों की एकता तथा लड़ाका-वृत्ति को तोड़ने के लिए किया गया है। फिर भी वस्तुगत स्थिति उन्हें संघर्षों की ओर प्रेरित कर रही है। केंद्र एवं राज्य सरकारें इन संघर्षों पर ध्यान देने तथा कुछ उपायों (हालाँकि वे आमतौर पर काग़ज़ पर ही धरे रह जाते हैं) की घोषणा करने को विवश हुई हैं। हमारे दूर-दूर तक फैले समूचे देहात में छितरे-फैले करोड़ों देहाती मज़दूरों को संगठित करने (तथा इस प्रकार इन संघर्षों को विकसित व सुदृढ़ करने) का कार्यभार एक अत्यंत दुष्कर कार्यभार है और अब तक जो कुछ भी हो पाया है वह एक नन्हीं-सी शुरुआत से अधिक कुछ नहीं है।

—कृषि के बाद दूसरे स्थान पर आता है परम्परागत हथकरघा उद्योग, जो लगभग 2 करोड़, 50 लाख आबादी को रोटी-रोज़ी उपलब्ध कराता है। विकेंद्रीकृत कपड़ा उद्योग का विकासमान बिजली करघा उद्योग भी इसमें जुड़ गया है। हथकरघों तथा बिजलीकरघों का महत्व तो इस बात से सिद्ध हो जाता है कि भारत के कुल कपड़ा उत्पादन का 60 प्रतिशत तो ये दोनों मिलकर ही उत्पादित करते हैं।

—हथकरघा बुनकर पूंजीवादी बाज़ार की क्रिया-विधि द्वारा निर्दय शोषण के शिकार हुए हैं। धागों की क़ीमतों में सट्टेबाज़ी के कारण होने वाली बढ़ोतरी, रंगों तथा रसायनों जैसी अन्य चीज़ों के साथ-साथ उचित दरों पर उनकी अनुपलब्धता (न मिलने) तथा हथकरघा उत्पादों को बाज़ार में भेजने की दिक़्क़तों ने मिलकर हथकरघों पर होने वाले काम में काफ़ी कटौती तो कर ही दी है, बुनकरों को ग़रीबी की रेखा के नीचे भी धकिया दिया है। जहाँ तक बिजलीकरघा मज़दूरों का संबंध

है, उन्हें सेवा-सुरक्षा जैसी कोई सुविधा नहीं मिली हुई है, तथा उन्हें अनथक मेहनत करने (यानी काम के घंटों, विश्राम-मध्यांतर, अवकाश अथवा छुट्टी जैसे बुनियादी अधिकारों तक की परवाह किये बग़ैर), और करते रहने को विवश किया जाता है। मज़दूरी की न्यूनतम दरें तो लागू नहीं ही की जातीं, क्योंकि राज्य सरकारें बिजली-करघा मालिकों की लॉबी (जिसकी पीठ पर कपड़ा इजारेदारों का हाथ होता है) के दबावों के सामने घुटने टेक देती हैं। वास्तविक जीवन ने सरकार के इस शेखी-भरे दावे को झुठला दिया है कि उसकी 'नयी कपड़ा नीति', उद्योग के संबंध में उसकी समग्र दृष्टि के कारण, विकेंद्रीकृत क्षेत्र के लाखों बुनकरों को सीधा लाभ पहुँचायेगी। इसके विपरीत, इस नीति ने उन्हें कपड़ा इजारेदारों—'पालिएस्टर लॉबी', धागा-व्यापार के ठगों तथा अन्य शोषकों—की दया का मोहताज बना दिया है।

—यहाँ भी, मूल कारण खुद बुनकरों के अपने संगठन का न होना है, जिस वजह से हथकरघा बुनकरों के लिए 25 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से औसत आमदनी तथा 30 दिन का काम सुनिश्चित करवा पाना, अथवा बिजलीकरघा बुनकरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी तथा अन्य सेवा-शर्तें लागू करवा पाना भी काफ़ी कठिन हो गया है। कुछ साल पहले गठित 'अखिल भारतीय बुनकर महासंघ' को निर्मित व सक्रिय करने के, तथा बिजलीकरघा मज़दूरों की यूनियनें क़ायम करने और उनकी एक अखिल भारतीय समन्वय समिति गठित करने के प्रयास शुरू तो कर दिये गये हैं, पर इन प्रयासों में गति व शक्ति आ पाना अभी भी बाक़ी है।

—लाखों बीड़ी मज़दूर तुलनात्मक रूप से बेहतर संगठित हैं। वे उग्र संघर्षों की परम्पराओं, अनेक केन्द्रों में स्थायित्वपूर्ण (टिकाऊ) यूनियनों तथा एक अखिल भारतीय महासंघ से जुड़े हैं। यहाँ भी, मालिक लोग न्यूनतम मज़दूरी तथा बीड़ी एवं सिगार क़ानून के प्रावधानों को दंडाभाव के कारण लागू करने में कोताही बरतते हैं। इस उद्योग में काम में ली जाने वाली प्रौद्योगिकी का स्तर निम्न होने के कारण, बीड़ी-शहंशाह क़ानून के प्रावधानों से बच निकलने के इरादे से बहुत से स्थानों पर तथा अनेक तरीक़ों से मालिक-कर्मचारी संबंध को आसानी से ख़त्म कर पाने में सफल हो जाते हैं। बहरहाल, बीड़ी मज़दूरों द्वारा संगठन का जो स्तर प्राप्त कर लिया गया है वह मालिकों की युक्तियों (चालाकियों) को नाकाम करने व परास्त करने के कार्यभार के मुताबिक़ ऊँचा उठ पाने में असमर्थ है।

—कृषि एवं हथकरघा उद्योग के बाद जो अत्यन्त बड़ा क्षेत्र है वह है निर्माण एवं भवन-निर्माण क्रियाकलाप का। भरोसेमंद आँकड़े उपलब्ध नहीं होने पर इतना तो तय है कि 1981 की जनगणना के अनुसार निर्माण उद्योग में 35 लाख 65 हज़ार मज़दूर काम कर रहे थे। इनमें से 10 प्रतिशत महिलाएँ थीं। 18 लाख 6 हज़ार मज़दूर शहरी इलाक़ों में काम कर रहे थे। अनुमान यह है कि निर्माण

उद्योग के श्रम-बल में हर साल 4 लाख मज़दूरों की बढ़ोतरी हो जाती है। इस उद्योग में कई एजेंसियाँ रोज़गार देने का काम करती हैं—जैसे, (1) सार्वजनिक निर्माण विभाग, सिंचाई तथा बिजली विभागों के रूप में सरकारी एजेंसियाँ; (2) राष्ट्रीय परियोजना निर्माण निगम जैसी सार्वजनिक क्षेत्र की एजेंसियाँ; (3) बड़ी निजी फ़र्में तथा; (4) ठेकेदार, उप-ठेकेदार तथा छोटे ठेकेदार आदि।

—मोटे तौर पर इस उद्योग को दो क़िस्मों में बाँटा जा सकता है—भवन-निर्माण एवं परियोजना-निर्माण। इस उद्योग में लगे कुल श्रम-बल का 53 प्रतिशत भवन-निर्माण तथा रख-रखाव के काम में लगा हुआ है। मज़दूरों का बड़ा हिस्सा विशेषज्ञता तथा विशिष्ट कुशलताओं से लैस है। उन्हें आमतौर से नये भवन-निर्माण तथा परियोजना स्थलों पर पुनः काम पर रख लिया जाता है। पर सेवा-निरंतरता एवं पारिश्रमिक-निरंतरता के बग़ैर। इनमें काफ़ी बड़ा हिस्सा उन मज़दूरों का है जो आज यहाँ हैं, तो कल वहाँ। इनमें अकुशल मज़दूरों की जो सबसे निम्न श्रेणियाँ हैं वे अपनी मुफ़लिसी, घुमन्तू प्रकृति, जड़ों से कटे हुए होने, काम की असुरक्षा, बेहद कम मज़दूरी, ठेकेदारों व मुक़दमों से लिये हुए कर्ज़ों तथा अग्रिम राशियों तथा मालिकों के गुंडों द्वारा धमकाये-चमकाये जाने के कारण बँधुआ मज़दूरों की हालत में, या उसके आस-पास पहुँच जाती हैं। एक बहुत छोटा-सा हिस्सा उन मज़दूरों का है जो परियोजनाओं से सम्बद्ध होने तथा थोड़े-बहुत संगठित होने के कारण अस्थायी आवास तथा अन्य लाभ पाने में सफल हुए हैं। बाक़ी सब तो सामान्यतया निर्माण स्थलों पर झोंपड़ियाँ खड़ी कर लेते हैं और जैसे ही निर्माण-कार्य पूरा हो जाता है, वे फिर से सड़क पर आ जाते हैं और शहरी जंगल में गंदी बस्तियों में शरण लेने को या अन्य किसी स्थान की ओर कूँच कर जाने को मजबूर होते हैं।

—निर्माण मज़दूरों का विशाल बहुमत—ख़ासकर ठेके पर काम करने वाले मज़दूर—असंगठित है। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में 1983-84 में निर्माण-मज़दूरों की संख्या 4 लाख 62 हज़ार थी। किन्तु अधिकृत ट्रेड यूनियन-सदस्यों की संख्या सिर्फ़ 17 हज़ार 260 (यानी 3.7 प्रतिशत) थी। नये क़ानून (जैसे 'अन्तर-राज्य प्रवासी श्रमिक अधिनियम', 'ठेका-मज़दूर अधिनियम', 'न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम' आदि) पास किये जा सकते हैं, निरीक्षक नियुक्त किये जा सकते हैं, पर जब तक कि ख़ुद ट्रेड यूनियनें ही मज़दूरों के हितों की चौकस रहकर रखवाली न करने लग जायें, कोई ख़ास फ़र्क़ पड़ने वाला नहीं है।

—निर्माण उद्योग से जुड़ा हुआ निर्माण सामग्री उद्योगों (ईंट-भट्टे-टाइल उद्योग, पत्थर की खदानें, मिट्टी निकालने वाली, लकड़ी काटने वाली आरा मिलें, प्लाई वुड कारख़ाने, चूना, पेंट तथा शीशा बनाने वाले) का समूह है। यहाँ हमने सीमेंट, स्टील, बिजली के सामान से सम्बद्ध उद्योगों को इसलिए नहीं गिनाया

क्योंकि वे आमतौर पर संगठित हैं। उपरोक्त उद्योगों में हालात बेहद दयनीय हैं। उनके बारे में न तो कोई सर्वेक्षण हुआ है। और न भरोसेमंद आँकड़े ही उपलब्ध हैं। फिर भी इन उद्योगों में रोज़गार के संबंध में मोटामोट अन्दाज़ तो अखिल भारतीय ईंट एवं टाइल निर्माता महासंघ के वक्तव्य से लगाया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि देश में कुल 22 हज़ार ईंट-भट्टे हैं, जिनमें 30 लाख मज़दूर काम करते हैं। इनमें से अधिकांश लोग मूलतः खेतिहर मज़दूर हैं जो दुर्दिनों की मार से बचने के लिए काम की खोज में पारिवारिक समूहों के रूप में निकल पड़ते हैं। अकेले हरियाणा में ही, 26 हज़ार 471 मज़दूरों में से 13 हज़ार 775 राजस्थान, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा नेपाल तक से आये हुए मज़दूर हैं। इन मज़दूरों का चयन आमतौर से जमादारों अथवा एजेंटों के माध्यम से किया जाता है, जो मज़दूरों की कमाई में से कुछ हिस्सा मार लेते हैं।

—उपरोक्त श्रेणियों के अलावा हॉज़री तथा सिलेसिलाये कपड़ा उद्योग से जुड़े हुए मज़दूर, जंगलात मज़दूर, खनिज-लोहा तथा अन्य खनिज खानों (इन दोनों क्षेत्रों के अधिकांश मज़दूर जनजातियों से आते हैं) में काम करने वाले मज़दूर भी हैं।

यहाँ दिये गये तथ्य हमारे श्रम-बल में असंगठित मज़दूरों की विशालता, उनके शोषण की गहराई तथा ट्रेड यूनियन आंदोलन के दरपेश समस्या के स्वरूप को उजागर करने के लिए काफ़ी हैं। अगले अध्याय में हम हमारे देश के असंगठित विशाल मेहनतकश जन-समूहों से जुड़े हुए कुछ अन्य पहलुओं की चर्चा करेंगे।

ज़रूर पढ़ें :

भारतीय खेत मज़दूर यूनियन के अधिवेशन की रिपोर्ट।

पाठ : 22

असंगठितों को संगठित करो : बाल एवं महिला मज़दूरों को

—असंगठित मज़दूरों के बारे में चर्चा स्वाभाविक तौर पर हमें हमारे श्रम-बल में बाल-मज़दूरों के सवाल की ओर ले आयी है।

भारत में इस समस्या का आकार क्या है ?

—योजना आयोग ने 1 मार्च, 1983 को आधार बनाकर बाल-मज़दूरों की अनुमानित संख्या 1 करोड़ 73 लाख 6 हज़ार बतायी।

—वडोदरा के आपरेशंस रिसर्च ग्रुप ने, रोज़ी-रोटी के लिए मज़दूरी करने को विवश बच्चों की संख्या 4 करोड़ 40 लाख मानी।

—बँगलौर-स्थित 'मेहनतकश बच्चों के बारे में चिंतित' समूह ने इनकी संख्या को 10 करोड़ से भी ऊपर माना।

मेहनतकश बच्चे देश के श्रम-बल का क़रीब 26 प्रतिशत गठित करते हैं तथा अपने परिवारों की कमाई में क़रीब-क़रीब इतना ही योगदान करते हैं। इनमें से क़रीब 80 प्रतिशत अनुसूचित जातियों व जनजातियों—समाज के सामाजिक एवं आर्थिक रूप से दमित हिस्सों—के हैं। क़रीब 87 प्रतिशत मेहनतकश बच्चे कृषि, बाग़ानों, मछली-पालन आदि में संलग्न हैं, कमर-तोड़ मेहनत करते हैं, और कभी-कभी तो अपने माँ-बाप के साथ-साथ मेहनत-मज़दूरी से जुड़े होते हैं।

यह एकदम स्वाभाविक है कि इनमें से बहुसंख्य निरक्षर तथा स्कूल पहुँच पाने के अवसर से वंचित होते हैं, क्योंकि 6 से 14 साल की उम्र में तो ये काम करने लग जाते हैं।

—उनके शोषण की क्रूरता एवं अमानवीयता को आसानी से शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। वे किन परिस्थितियों में काम करते हैं इसकी ओर इशारा भर करने से असलियत सामने आ जायेगी :

—शिवा काशी के माचिस तथा आतिशबाज़ी उद्योगों में 45 हज़ार से

अधिक बच्चे 224 पंजीकृत माचिस कारखानों तथा 2455 नन्हीं इकाइयों में काम करते हैं।

—भदोही—मिर्ज़ापुर पट्टी में तथा इलाहाबाद व वाराणसी जैसे शहरों में गलीचा-उद्योग में 75 हज़ार बच्चे काम करते हैं।

—फ़िरोज़ाबाद में तथा उसके आस-पास चूड़ियाँ, शीशे के मर्तबान, मालाएँ तथा अन्य बर्तन बनाने वाले उद्योगों में 50 हज़ार बच्चे 1400 डिग्री सेल्सियस तापक्रम वाली भट्टियों के पास काम करते हैं।

—इनके अलावा, क़रीब 10 लाख बच्चे ऐसे हैं जिनमें से अधिकांश चिथड़े बीनने, जूता पालिश करने का काम करते हैं तथा बाक़ी लावारिस तथा बेघर हैं जो जैसे-तैसे अपना गुज़ारा कर पाते हैं।

—भारतीय संविधान की धारा 24 कारखानों, खानों अथवा खतरनाक स्थानों पर 14 साल से कम उम्र के बच्चों को काम पर रखने को निषिद्ध घोषित करती है।

—धारा 39 'राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों' के अंतर्गत यह निर्धारित करती है कि 'बच्चों की नाज़ुक उम्र' के साथ दुर्व्यवहार न किया जाये, और कि बच्चों को 'अपने आपको स्वस्थ ढंग से विकसित करने के अवसर व सुविधाएँ प्रदान की जायें', और यह भी कि 'बच्चों तथा युवाओं की शोषण तथा नैतिक एवं भौतिक असंयम (स्वच्छंदता) से रक्षा की जाये'।

इन समस्त पावन घोषणाओं के विपरीत, ठोस वास्तविकताएँ उलटी ही कहानी कहती हैं। संविधान लागू होने के बाद, साल-दर-साल मेहनतकश बच्चों की संख्या लगातार बढ़ती ही जा रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट के अनुसार सारी दुनिया में 5 करोड़ 20 लाख बाल-मज़दूर हैं (और यदि योजना आयोग के अनुमान को भी संतुलित मानकर आधार बना लिया जाये), और अकेले भारत में 1 करोड़ 70 लाख, यानी दुनिया के कुल बाल-मज़दूरों का एक-तिहाई हिस्सा है।

—दरिद्रता तथा मुफ़लिसी माँ-बाप को मजबूर कर देती है, बच्चों को जल्दी सुबह बिस्तर से घसीट कर, 12 से 14 घंटे तक मेहनत-मज़दूरी करने के लिए हाँक देने को। बच्चों की कमाई भूखों मरने और जीवित रह जाने के फ़र्क़ को उजागर कर देती है।

पर यह तो सिर्फ़ एक पहलू है।

—दूसरा पहलू यह है कि मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी कठोर मालिक बच्चे को सस्ते श्रम के स्रोत के रूप में देखते हैं, जिसके साथ दुर्व्यबहार तथा जिसका शोषण आसानी से किया जा सकता है। बच्चा एकदम असहाय, वाणीहीन तथा लाचार होने के कारण पूरी तरह से मालिक की दया पर आश्रित होता है। उसे आसानी से डरा-धमका दिया जाता है तथा भागकर जाने के लिए उसके पास कोई जगह

होती ही नहीं। 'फ़ुरतीली अंगुलियों' संबंधी तर्क शरारतपूर्ण तथा दोषदर्शी (मानव-द्वेषी),क्योंकि प्रौद्योगिकी तो हमेशा ही सबसे 'फ़ुरतीली अंगुलियों' का काम संपन्न कर सकती है।

बाल-मज़दूरी कोई अवश्यंभावी चीज़ नहीं है, आवश्यक बुराई नहीं है, जिसे कि रो-धो कर स्वीकार करना ही पड़े। यह तो मौजूदा शोषण व दमन पर आधारित आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था की ही उपज है, जो बेहद ग़रीबी, निरक्षरता, बेरोज़गारी तथा पिछड़ेपन की स्थिति में पैदा होती है, तथा इसका ख़ात्मा उस व्यवस्था को ख़त्म करके ही हो सकता है जो न केवल इसे पनपाती है बल्कि इससे लाभ उठाकर फलने-फूलने की कोशिश करती है।

—अपने वर्ग-चरित्र के अनुरूप, सरकार—बाल-मज़दूरी ख़त्म करने की इच्छा व इरादे के बग़ैर—कई क़ानून बनाने की प्रक्रिया से गुज़री है। उदाहरण के लिए 'बाल (श्रम-वचन देना या गिरवी रखना) अधिनियम 1933', 'बाल-रोज़गार अधिनियम 1938', 'बाल-रोज़गार (संशोधन) अधिनियम, 1985' तो हैं ही, इनके अलावा कारख़ाना अधिनियम, खान अधिनियम, नौसिखिया (प्रशिक्षु) अधिनियम, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम आदि सब भी बाल-मज़दूरी से संबंध रखते ही हैं। फिर भी, क़ानूनों की इस अधिकता के बावजूद, बाल-मज़दूरी के ख़िलाफ़ क़ानूनी संरक्षण शायद कभी लागू नहीं हो पाया।

बाल-मज़दूरी पर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन समझौते की भी भारत द्वारा पुष्टि नहीं की गयी है।

—एक नया क़ानून, जिसे 'बाल-मज़दूरी (निषेध एवं नियमन) अधिनियम, 1986' अभी पास हुआ है, जिसने पहले वाले 1938 के अधिनियम का स्थान ले लिया है। यह पुराने क़ानून के रंग-रोगन किये हुए संस्करण से अधिक कुछ नहीं है। दरअसल, यह कुछ परिस्थितियों में बाल-मज़दूरी को क़ानूनी वैधता भी प्रदान करता है। यह बच्चों के लिए ख़तरनाक उद्योगों तथा उन उद्योगों में भेद करता है जिन्हें ऐसा नहीं माना जाता। यह भेद 1938 के अधिनियम में भी था। नये क़ानून में सिर्फ़ 'निर्माण कार्य' को उस सूची में जोड़ दिया गया है। पहले क़ानून में बाल-मज़दूरी निषिद्ध है। दूसरे में उसका नियमन कर दिया गया है, बस मज़दूरी, काम के घंटों तथा चिकित्सा सुविधा के संबंध में कुछ शर्तें निर्दिष्ट कर दी गयी हैं। बच्चों के लाभ के लिए कल्याण निधि स्थापित करने के उद्देश्य से बाल-मज़दूरों को काम पर रखने वाले उद्योगों पर लगाये जाने वाले अधिभार के बहुचर्चित विचार को बाद में अधिनियम में से निकाल दिया गया और इसे सरकार पर छोड़ दिया गया। यह क़ानून भी अर्द्ध-संगठित क्षेत्र में काम करने वाले 10 से 20 प्रतिशत बच्चों से अधिक को अपने दायरे में नहीं ला पाता। बाक़ी को उनके भाग्य के भरोसे छोड़ दिया गया है।

—सवाल उठता है : यदि पहले से विद्यमान क़ानूनों को ही लागू नहीं किया जा सका, तो आने वाले समय में इस नये क़ानून के पालन के लिए मालिकों को विवश कैसे किया जा सकेगा? दसियों हज़ार मालिकों—जो बाल-मज़दूरी का उपयोग-दुरुपयोग करते हैं—तथा मुट्ठी भर निरीक्षकीय स्टाफ़ की मिली-भगत के दुष्चक्र को तोड़ने का काम कौन करेगा ? इन सवालों के कोई जवाब नहीं हैं। यह क़ानून जनमत का अनुमोदन मात्र है तथा जनता और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयास है। सरकार अब यह दावा कर सकती है कि वह बाल-मज़दूरी की अति गंभीर समस्या का हल करने में लगी है तथा इसे दस साल के भीतर ख़त्म देने का उसका इरादा है ! इस सबको 'व्यावहारिक नज़रिये' के रूप में गरिमामंडित किया जाता है, पर जिसका कुल मिलाकर अर्थ सिर्फ़ यह है कि देश को इस बुराई के साथ जीना पड़ेगा।

—हाल ही में गठित राष्ट्रीय बाल-मज़दूरी सलाहकार बोर्ड भी अभी तक तो एक काग़ज़ी संगठन है। जो घिसी-पिटी बातें दोहरा भर रहा है। प्रतिष्ठान के भीतर का असली रुख़ हथकरघा एवं दस्तकारी निर्यात निगम (दिल्ली स्थित राजकीय संगठन) के मुख्य प्रबंधक की उस टिप्पणी में उजागर होता है जो उन्होंने वाराणसी में एक संगोष्ठी में बोलते हुए की थी। उन्होंने बच्चों पर प्रतिबंध लगाने का ज़ोरदार विरोध करने की हिम्मत दिखाते हुए यह कहा कि "यह गलीचा उद्योग के लिए आत्मघाती होगा !"

—अब समय आ गया है कि ट्रेड यूनियनें बाल-मज़दूरी के सवाल को लोकोपकारियों तथा समाजशास्त्रियों के ज़िम्मे ही न छोड़ दें। उन्हें खुलकर बोलना होगा। उन्हें बाहर निकलना व फैलना होगा। उन्हें बड़े भाइयों के रूप में हस्तक्षेप करना होगा। हो सकता है कि बच्चों को संगठनों की ओर आकर्षित न किया जा सके, यूनियनों में संगठित न किया जा सके, पर वे मज़दूर आंदोलन की मूल्यवान निधि हैं, क्योंकि वे ही मज़दूरों की अगली पीढ़ी होंगे।

—आर्थिक क्रियाकलाप में महिलाओं—कामकाजी महिलाओं तथा सामान्यतः महिलाओं—की भागीदारी का सवाल तथा उससे जुड़ी समस्याओं पर आजकल व्यापक रूप से चर्चा हो रही है। महिला संगठनों के अलावा ट्रेड यूनियनों ने भी कामकाजी महिलाओं—जिनका बहुत बड़ा हिस्सा अभी तक असंगठित है—पर ध्यान केंद्रित करना शुरू कर दिया है। फिर भी, यह एकदम अपर्याप्त है, तथा इस दिशा में किये जा रहे प्रयास भी बेहद छिटपुट एवं असंगठित हैं।

—भारत में कुल श्रम-बल—26 करोड़ 50 लाख—में महिलाओं का हिस्सा क़रीब एक-तिहाई है (8 करोड़ 70 लाख)। संगठित क्षेत्र में कार्यरत महिलाओं का प्रतिशत 1980-81 में 12.2 प्रतिशत था। 1984-85 में यह बढ़कर 12.9 प्रतिशत हो गया।

सारणी

संगठित क्षेत्रों में महिलाओं का नियोजन

(हज़ारों में)

वर्ष	सार्वजनिक क्षेत्र			निजी क्षेत्र			कुल योग		
	कुल	महिलाएँ	प्रतिशत	कुल	महिलाएँ	प्रतिशत	कुल	महिलाएँ	प्रतिशत
1980-81	15484	1499	9.7	7395	1294	17.5	22879	2793	12.2
1981-82	15946	1580	9.9	7547	1320	17.5	23493	2899	12.3
1982-83	16456	1691	10.3	7522	1305	17.3	23978	2996	12.5
1983-84	16869	1774	10.5	7345	1283	17.5	24214	3058	12.6
1984-85	17269	1864	10.8	7309	1298	17.7	24578	3162	12.9

स्रोत : श्रम मंत्रालय

—सार्वजनिक क्षेत्र में इस मामूली बढ़ोतरी का श्रेय इस बात को दिया जा सकता है कि महिलाएँ शिक्षकों, नर्सों, क्लर्कों आदि के पदों पर काम करने लगी हैं।

प्राथमिक क्षेत्र (कृषि, वानिकी, मवेशी, मछली-पालन, बागान तथा संबद्ध क्रियाकलाप) क़रीब 83 प्रतिशत महिलाओं को काम मुहैया कराता है—इनमें से 46 प्रतिशत तो खेतिहर मज़दूरों के रूप में काम करती हैं। कृषि के बाद, हथ-करघा-दस्तकारी तथा देहाती उद्योग महिलाओं को काम के अवसर उपलब्ध कराने में प्रधान भूमिका अदा करते हैं। ये उद्योग उन्हें अपनी निपुणता व हुनर दिखाने में भी समर्थ बनाते हैं। बड़ी संख्या में महिलाएँ इन दिनों तेज़ी से विकसित हो रहे सिले वस्त्र उद्योग की ओर आकृष्ट हो रही हैं, तथा घर पर अथवा ठसाठस भरे हुए भवनों में—जहाँ समुचित धूप-हवा का भी प्रवेश नहीं होता—काम करके प्रति नग की दर से नगण्य भुगतान पा रही हैं। महिलाओं के लिए विशेष क़ानून पारित किये जाने की माँग तथा इन क़ानूनों से महिलाओं को मिलने वाले लाभों की बढ़ती हुई चेतना से कतराने के उद्देश्य से मालिकों ने अब तक अर्द्ध-संगठित कुछ उद्योगों (बीड़ी, नारियल-जटा, काजू) आदि को घर-केंद्रित उत्पादन में परिवर्तित करने, तथा कपड़ा उद्योग से महिलाओं की तुरत-फ़ुरत छँटनी कर देने का सहारा लिया है। इस प्रकार पिछले दो वर्षों के दौरान सूती कपड़ा मिलों, जूट मिलों तथा खानों में महिला मज़दूरों की संख्या में 30 से 60 प्रतिशत तक की गिरावट आयी है। आमतौर पर छँटनी की कुल्हाड़ी जब भी चलती है तो महिलाएँ ही उसकी पहली शिकार होती हैं।

—आर्थिक क्रियाकलाप में महिलाओं की भागीदारी की दीर्घ-अवधि प्रवृत्ति (झुकाव) में व्यापक ठहराव दिखाई देता है। इसने वह सवाल पैदा कर दिया है जिसे देश की अर्थव्यवस्था में महिलाओं को 'हाशिये पर डाल देना' कहा जा सकता है, खासकर अन्य उन्नत देशों की तुलना में जहाँ महिलाएँ कुल श्रम-बल का 30 से 45 प्रतिशत भाग निर्मित करती हैं। हाल के वर्षों में, शहरी इलाक़ों में, खासकर सेवा उद्योगों में, सूचना-प्रसार सेवाओं में, औषधि-निर्माण तथा इलेक्ट्रानिक उद्योग में काम पाने की आकाँक्षी महिलाओं की संख्या में बढ़ोतरी हो रही है। यह आर्थिक दबावों (विवशताओं), सामाजिक परिवर्तन, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण (खासकर खुद महिलाओं के) में परिवर्तन का प्रतिबिंब है। आज जब हम बेरोज़गारी की चर्चा करते हैं तो हमारा आशय मात्र पुरुष बेरोज़गारी ही नहीं, बल्कि अक्सर महिला बेरोज़गारी भी होता है। रोज़गार दफ़्तरों के चालू रजिस्टर इस प्रवृत्ति को प्रतिबिंबित भी करने लगे हैं :

सारणी

(हज़ारों में)

वर्ष	चालू रजिस्टर में काम पाने के आकांक्षियों की संख्या (कुल)	पिछले वर्ष की तुलना में बढ़ोतरी का प्रतिशत	काम पाने की आकांक्षी महिलाओं की संख्या	पिछले वर्ष की तुलना में बढ़ोतरी का प्रतिशत	कुल काम पाने के आकांक्षियों में महिलाओं का प्रतिशत
1982	19753.0	10.7	3138.0	14.8	15.9
1983	21953.3	11.1	3581.6	14.1	16.3
1984	23546.8	7.3	4002.1	11.7	17.0
1985	26269.9	11.6	4447.5	11.7	16.9
1986	30131.2	14.7	5068.1	14.6	16.9

स्रोत : केन्द्रीय श्रम मंत्रालय

ऐसे कई क़ानून विद्यमान हैं जो महिला मज़दूरों को क़ानूनी रक्षा (बचाव) उपलब्ध कराते हैं, जैसे :

—फ़ैक्टरी क़ानून 1948, बाग़ान श्रम क़ानून 1951, तथा बीड़ी एवं सिगार मज़दूर (नियोजन की शर्तें) क़ानून 1966 में यह प्रावधान है कि हर उस बाग़ान अथवा औद्योगिक भवन में—जहाँ आम तौर से पचास अथवा अधिक महिलाएँ काम करती हैं, वहाँ उन महिलाओं के 6 साल से कम उम्र के बच्चों के लिए एक उपयुक्त कमरा उपलब्ध कराना होगा तथा उसकी देखभाल का बंदोबस्त कराना होना। कारख़ानों के मामले में महिलाओं की सीमा 30 है। ख़ान क़ानून में न्यूनतम सीमा का कोई उल्लेख ही नहीं है। शिशु-गृह में प्रत्येक बच्चे को दूध एवं पौष्टिक स्वल्पाहार उपलब्ध कराने का भी प्रावधान है।

—कारख़ानों, ख़ानों तथा बाग़ानों संबंधी क़ानूनों में महिलाओं के उपयोग के लिए निर्धारित पैमाने पर अलग शौचालयों व पेशाबघरों का भी प्रावधान है।

—ये क़ानून (बीड़ी एवं सिगार क़ानून भी) शाम के 7 बजे से सुबह के 6 बजे तक (जब तक कि किन्हीं परिस्थितियों के तहत राज्य सरकारों द्वारा इसमें ढील न दे दी जाये) महिलाओं को काम पर रखने का निषेध करते हैं।

—फ़ैक्टरी क़ानून ख़तरनाक अथवा भारी धंधों में महिलाओं को काम पर रखने का निषेध करता है। ख़ान क़ानून ज़मीन के नीचे के ख़ान के किसी भी भाग में महिलाओं द्वारा किये जाने वाले किसी भी काम का निषेध करता है।

—इन तमाम प्रावधानों के बावजूद सुलभ तथा चालू शौचालयों, अलग

विश्राम-कक्षों तथा शिशु-गृह सुविधाओं तक का सभी भवनों में बंदोबस्त नहीं किया जा सका है। बच्चों को अपना दूध पिलाने तक के लिए माताओं को पंद्रह मिनट का नियमित विश्राम तक की अनुमति नहीं दी जाती। कैंटीनों पर पुरुष मज़दूर कब्ज़ा जमा लेते हैं और महिला मज़दूरों को अपने काम के स्थान पर ही ज़मीन पर बैठकर खाना खाना पड़ता है।

—समान पारिश्रमिक क़ानून, 1976 ने लिंग के आधार पर भेदभाव को समाप्त करने का प्रयास किया है। फिर भी यह जीवन का यथार्थ है कि महिलाओं को उतने ही घंटे काम करने के बावजूद जितना कि पुरुष करते हैं, दी जाने वाली मज़दूरी की दरें अधिसूचित अथवा दी जाने वाली दरों से निश्चित तौर से कम होती हैं। अकुशल काम की कई श्रेणियों में तो महिलाओं को पुरुषों को किये जाने वाले भुगतान का 65 से 70 प्रतिशत तक ही मिल पाता है। तर्क यह दिया जाता है कि उनका काम हलका होता है अथवा उनकी उत्पादकता कम होती है— हालाँकि हक़ीक़त यह है कि तुलना के कोई आधार हैं ही नहीं। यह भी होता है कि एक ही उद्योग में महिलाओं के लिए उन्हीं धंधों के द्वार खुले होते हैं जिनसे कम पारिश्रमिक की प्राप्ति जुड़ी होती है।

—क़ानून में राज्य सरकारों द्वारा सलाहकार समितियाँ गठित किये जाने का प्रावधान है। आधे सदस्य महिलाएँ होंगी। हालाँकि दस साल से अधिक समय गुज़र गया है, अधिकांश राज्यों ने इन समितियों को गठित करने की परवाह ही नहीं की है। उत्तर प्रदेश के अलावा किसी राज्य ने क़ानून के तहत उल्लंघनों की सूचना देने तक की ज़हमत नहीं उठायी है। प्रवर्तन शक्तियाँ सब राज्यों में एक-सी नहीं हैं। इस बात पर ग़ौर करना काफ़ी दिलचस्प होगा कि कुल चलाये गये मुक़दमों की संख्या 1982 में 15, 1983 में 58 तथा 1984 में 67 थी, जबकि 1982 में 8, 1983 में 25 तथा 1984 में कुल 38 मामलों में सज़ा हुई।

—यह अनुपालन-प्रदर्शन अंतर्राष्ट्रीय महिला दशक के दौरान हुआ है। उच्च प्रबंधकीय तथा निगरानी वाले पदों पर भेद-भाव अभी भी जारी है, क्योंकि धारणा यही बनी हुई है कि ये पुरुषों के काम हैं। विवाहित महिलाओं की तुलना में अविवाहित महिलाओं को प्राथमिकता दी जाती है। जहाँ तक 'अविवाहित माताओं' का संबंध है उनके प्रति एक अनकहा किंतु दृढ़ पूर्वाग्रह दिखाई देता है। अकेली कामकाजी महिलाओं के लिए हॉस्टल सुविधाएँ एकदम दुर्लभ हैं।

—कर्मचारी राज्य बीमा क़ानून, 1948 तथा मातृत्व हित क़ानून, 1961 का मंतव्य महिलाओं को व्यापक लाभ पहुँचाना है। यह दूसरा क़ानून चाहे आर्थिक क्रियाकलाप में संलग्न मात्र 12 प्रतिशत महिलाओं को प्रभावित करता है। किंतु प्रसव के दिन से पहले के बारह महीनों के दौरान 160 दिन की निरंतर सेवा की जो प्रतिबंधक शर्त लगी हुई है। उसके कारण अधिकांश महिलाएँ अस्थायी

अथवा ठेके पर काम करने वाली मज़दूर हैं, इस क़ानून के तहत मिलने वाले लाभों से वंचित हो जाती हैं। वे शर्तों को पूरा नहीं कर सकतीं, और यदि करती भी हों तो इसे सिद्ध नहीं कर सकतीं, क्योंकि सेवा-पुस्तिकाएँ तथा मज़दूरी-भुगतान पर्चियाँ तक इन्हें नहीं दी जातीं। कर्मचारी राज्य बीमा क़ानून में इस प्रावधान को प्रतिगामी दिशा में संशोधित कर दिया गया है।

—महिला कर्मचारियों के प्रति हृदयहीन एवं भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण को चतुर्थ वेतन आयोग की सिफ़ारिशों तक में देखा जा सकता है। उसमें कहा गया है: "अभी तक महिला सरकारी कर्मचारियों द्वारा मातृत्व अवकाश का लाभ उठाये जाने वाले अवसरों पर कोई सीमा (लागू) नहीं है। हम यह सिफ़ारिश करते हैं कि, छोटे परिवार के राष्ट्रीय ध्येय के साथ सामंजस्य को ध्यान में रखते हुए, जिन महिला कर्मचारियों के दो से अधिक बच्चे हैं उन्हें मातृत्व अवकाश स्वीकृत न किया जाये।"

छोटा परिवार निस्संदेह वांछनीय है। हमें इसे प्रचारित करना चाहिए, यह हमारा अभीष्ट भी होना चाहिए। पर अभी तक यह सिद्ध ही कब और कहाँ हो गया है कि तीसरे बच्चे के जन्म की सारी ज़िम्मेदारी अकेली महिला के सिर होती है, और यह कि सिर्फ़ उसी को इस 'अपराध' का दंड मिलना चाहिए। यदि गर्भवती महिला को मातृत्व अवकाश से वंचित किया जाता है (जबकि स्वास्थ्य संबंधी तथा आर्थिक कारणों से उसे संभवतया पहले कभी की तुलना में उसे इस अवकाश की अधिक ज़रूरत है) तो इसका अर्थ और हो ही क्या सकता है। और फिर इस 'अपराध' में सम्मिलित पुरुष-भागीदार का क्या होगा? क्या माँओं को निशाना बनाने वाले इन आदिम उपायों से राष्ट्रीय ध्येय की पूर्ति में सहायता मिलेगी?

—महिलाओं के अधिकारों को लम्बे संघर्ष के परिणाम-स्वरूप औपचारिक मान्यता मिली है। अभी भी जो प्रमुख समस्या बनी हुई है वह है व्यावहारिक भेद-भाव के ख़िलाफ़ संघर्ष करना, मान्यता प्राप्त अधिकारों के लागू किये जाने को सुनिश्चित करना तथा समान पारिश्रमिक क़ानून, न्यूनतम मज़दूरी क़ानून, मातृत्व हित क़ानून आदि में समाहित क़ानूनी प्रावधानों के क्रियान्वयन को भी सुनिश्चित करना, क्योंकि अधिकांशतः महिलाएँ परम्परागत एवं असंगठित उद्योगों में काम करती हैं। इस कार्यभार में कर्मचारी राज्य बीमा कर्मचारी भविष्य-निधि क़ानून, ग्रेच्युटी भुगतान क़ानून 1972, पेंशन क़ानून, कामगर हरज़ाना क़ानून 1923 के प्रावधानों के तहत परिवार के पुरुष-रोज़ी कमाने वाले की मृत्यु हो जाने पर महिलाओं व परिवार के लिए सामाजिक सुरक्षा लाभों को सुनिश्चित करना भी शामिल है। यूनियनें दुर्घटना में अथवा दुखद परिस्थितियों में मृत कर्मचारियों की विधवा को रोज़गार मुहैया कराने की माँग को अधिकाधिक उठा रही हैं। वे यह

माँग भी कर रही हैं कि खेतिहर मज़दूरों तथा निर्माण मज़दूरों संबंधी व्यापक क़ानूनों में इन धन्धों में बड़ी संख्या में कार्यरत महिलाओं के संबंध में भी विशेष प्रावधान शामिल किये जाने चाहिए।

—स्व-रोज़गारशुदा महिलाओं—'डब्बा-बोतलवालियों 'भाजीवालियों', घर पर रहकर बीड़ी बनानेवालियों, अनाज मंडियों में बोरे खोलने-सिलनेवालियों आदि—की हालत बेहद दयनीय है। वे सूदखोर ठगों, बाज़ारू दलालों तथा दादाओं, नगरपालिका के कर्मचारियों तथा गश्ती पुलिसवालों की दया पर निर्भर होती हैं। उनकी रक्षा करने के लिए कोई क़ानून नहीं है। सरकार ने उनकी हालत का अध्ययन करने के लिए 'स्व-रोज़गार महिलाओं पर राष्ट्रीय आयोग' गठित किया है। ट्रेड यूनियनों को चाहिए कि वे उठ बैठें और इन स्व-रोज़गार महिलाओं की ओर ध्यान दें।

—यह सब हमें ट्रेड यूनियनों के विशिष्ट कार्यभार के रूप में, कामकाजी महिलाओं को संगठित करने के काम को हाथ में लेने के सवाल की ओर ले आता है। इस लिहाज़ से मौजूदा स्थिति क्या है? ट्रेड यूनियनों के रजिस्ट्रारों को प्रस्तुत वार्षिक विवरणों से संकलित आँकड़ों के अनुसार महिलाएँ कुल सदस्य संख्या का 6.2 प्रतिशत से अधिक गठित नहीं करतीं। ट्रेड यूनियन क्रियाकलाप में उनकी सक्रिय भागीदारी और भी कम है। विभिन्न स्तरों पर होने वाले ट्रेड यूनियन अधिवेशनों के महिला-प्रतिनिधियों की भागीदारी भी छिटपुट ही होती है। यही नहीं, जहाँ सदस्यों के रूप में महिला मज़दूर हैं—जैसे कि बीड़ी तथा नारियल-जटा उद्योगों में—वहाँ से भी अधिवेशनों में उनका प्रतिनिधित्व करने पुरुष प्रतिनिधि ही आते हैं। ट्रेड यूनियनों की कार्यकारिणी समितियों तथा पदाधिकारियों में भी महिलाएँ यदाकदा ही दिखाई देती हैं। और फिर भी, यह आम अनुभव है कि महिलाएँ, जब कहीं भी और जहाँ कहीं भी वे संघर्षों का अंग बन जाती हैं, दृढ़ तथा लड़ाका (उग्र) शक्ति के रूप में सामने आती हैं। ऐसे मौक़ों पर यूनियन के झंडे-तले वे चट्टान की भाँति अडिग खड़ी रहती हैं।

—भारतीय महिला राष्ट्रीय फ़ैडरेशन की, तथा अन्य महिला संगठनों की भी—खासकर कामकाजी महिला संगठनों की—गतिविधियों ने कामकाजी महिलाओं की समस्याओं व हालात के बारे में व्यापक चेतना पैदा की है। अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च को) सारे देश में बड़े पैमाने पर मनाया जाता है। एटक ने अपने बँगलौर तथा वडोदरा अधिवेशनों में उन्हें संगठित करने के कार्यभार की ओर विशेष ध्यान खींचा है। विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ (WFTU) ने भी इस बात की ओर मार्मिक ढंग से व ठीक ही ध्यान खींचा है कि "अनेक देशों में महिला मज़दूर ट्रेड यूनियनों द्वारा उनकी विशिष्ट समस्याओं तथा ट्रेड यूनियन आंदोलन के अग्रणी पदों पर महिलाओं को बढ़ावा देने की ओर दिये जाने वाले

ध्यान से सन्तुष्ट नहीं हैं।"

—यह स्थिति ट्रेड यूनियन आंदोलन के नेतृत्वकारी सदस्यों के नज़रिये में सचेतन बदलाव की माँग करती है, हर उद्योग में महिला मज़दूरों की विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन की माँग करती है, कामकाज की शैली में बदलाव की माँग करती है—छोटी-छोटी बातों, यानी बैठकों का स्थान व समय तय करने तक में ताकि महिलाएँ उनमें भाग ले सकें। महिला ट्रेड यूनियन सदस्यों के लिए विशेष कक्षाएँ भी आयोजित की जानी चाहिए। कामकाजी महिलाओं के बीच ट्रेड यूनियनों द्वारा किये जाने वाले काम में, कुछ मामलों में भारतीय महिला राष्ट्रीय महासंघ की स्थानीय इकाइयों के साथ भी समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए। बड़ी यूनियनों तथा उन प्रतिष्ठानों की यूनियनों को जहाँ महिलाएँ बड़ी संख्या में हैं, इस क्षेत्र में होने वाली प्रगति का लगातार जायज़ा लेते रहना चाहिए।

ज़रूर पढ़ें :

बाल एवं महिला मज़दूरों के विषय पर साहित्य—रिपोर्टों, लेखों—आदि का अम्बार लगता जा रहा है। ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं को उससे अवश्य परिचित होना चाहिए।

पाठ : 23

असंगठितों को संगठित करो : संगठित मज़दूरों की भूमिका

असंगठित मज़दूरों को संगठित करने तथा उनके दयनीय हालात को सुधारने के किसी भी प्रयास को नाकाम करने के उद्देश्य से इन दिनों मालिकों द्वारा जिन दो तरीक़ों का व्यापक तौर से इस्तेमाल किया जा रहा है, वे हैं : अर्द्ध-संगठित उद्योगों को घर-स्थित प्रति नग की दर पर आधारित काम के रूप में छितराना तथा शिकमी ठेका-प्रथा को बढ़ावा देना। सत्तर के दशक में ठेका मज़दूरी (नियमन एवं उन्मूलन) क़ानून-1970, ठेका मज़दूरी के नियमन तथा उन्मूलन के घोषित इरादे से (जैसाकि क़ानून के शीर्षक से ही स्पष्ट ध्वनित होता है) पारित किया गया था।

किन्तु हाल के वर्षों में, लागत कम करने, कुशलता बढ़ाने, ऊपर के (अतिरिक्त) खर्चे कम करने, अथवा 'शून्य-बजट' की अनोखी-अवास्तविक अवधारणा को क्रियान्वित करने के नाम पर, औद्योगिक एवं व्यापारिक क्रियाकलाप के विभिन्न क्षेत्रों में ठेका-मज़दूरी में बेतहाशा बढ़ोतरी होने लगी है। बारहमासी काम, आम रखरखाव तथा प्रचालन सम्बन्धी काम, जोकि औद्योगिक एवं व्यावसायिक उपक्रमों के अभिन्न अंग होते हैं, ठेके पर बाँटे जा रहे हैं। नियमित मज़दूरों को विस्थापित करके तथा मौजूदा मज़दूरों को मजबूरन ठाली बैठने व फ़ालतू होने के लिए अभिशप्त करके भी, ठेकेदार फ़र्मों, बड़े ठेकेदारों, शिकमी ठेकेदारों, निम्न ठेकेदारों से लेकर मज़दूर मुकादमों की फ़ौज खड़ी हो गयी है। जहाँ तक लागत कम करने का संबंध है, सब लोग इस तथ्य से आम तौर से परिचित हैं कि ठेकेदारी प्रथा सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार को जन्म देती है। इससे 'कमीशन एजेंटों' की लड़ी पैदा हो जाती है तथा ऐसी व्यवस्था भी निर्मित हो जाती है जहाँ ठेकेदार सामान (सामग्री) की चोरी करके तथा प्रशासनिक निसेनी के हर तल पर—हरेक को उसकी क़ीमत के मुताबिक़—कमीशन देकर निचले दर्जे के काम को प्रमाणित करवा लेता है। ठेका-कार्य के लिए सबसे बड़ा चरागाह निस्संदेह निर्माण उद्योग

है, जहाँ पर यह अपवाद न रहकर नियम बन गया है।

—मालिक लोग काम के ठेके दे देने को क़ानूनों तथा नियमों से बच निकलने के, मज़दूरी व सीमांत लाभों की लागत को बचाने के सामाजिक सुरक्षा भुगतानों से बचने के तथा मज़दूरों को रोज़गार के स्थायित्व से वंचित करने के तरीक़े के रूप में देखते हैं। वे इसे यूनियनों को प्रतिबन्धित करने व उन्हें कमज़ोर बनाये रखने के साधन के रूप में देखते हैं।

—ठेका मज़दूरी क़ानून तथा अन्तर-राज्य प्रवासी क़ानून 1979 के अलावा, जिनके बारे में यह मान्यता है कि वे काम करने वालों को क़ानूनी सुरक्षा प्रदान करते हैं, असंगठित क्षेत्र के विशाल मज़दूर समूह तो अधिकांशत: न्यूनतम मज़दूरी क़ानून की अनुसूचियों की परिधि में ही आते हैं।

क़ानून के तहत मज़दूरी आदि की ज़िम्मेदारी प्रमुख नियोक्ता पर डाली गयी है। और फिर भी, प्रसिद्ध एशियाड मामले में सर्वोच्च न्यायालय को केन्द्र सरकार पर अपने ही क़ानूनों का सम्मान न करने के अभियोग-आरोप लगाने पड़े। जहाँ तक प्रवर्तन तंत्र का सम्बन्ध है, 1985 तक केन्द्र द्वारा लाइसेंसशुदा ठेकेदारों की संख्या 26204 थी, जबकि पिछले तीन सालों के दौरान निरीक्षण की औसत दर क़रीब 2500, यानी 10 प्रतिशत से भी कम थी। अन्तर्राज्य प्रवासी क़ानून तो जन्म से ही अप्रभावी पड़ा है।

—असंगठित मज़दूर की दुर्दशा तथा परिणामस्वरूप उसके असन्तोष के लिए न्यूनतम मज़दूरी का नकार ही ज़िम्मेदार है। हम यह देख ही चुके हैं कि अधि-सूचित मज़दूरी दरें अपर्याप्त हैं तथा वे भी लागू नहीं की जातीं, और सरकार के पास नाममात्र को भी ऐसा कोई तंत्र नहीं है जोकि उन्हें लागू कर सके। **तर्कसम्मत न्यूनतम मज़दूरी क्या होनी चाहिए ?**

दो साल पहले योजना आयोग ने ग़रीबी की रेखा की गणना एक परिवार के लिए सालाना 7300 रु० की थी। आज की क़ीमतों पर यह 8000 रु० सालाना अथवा हर हाल में 20 से 25 रु० प्रतिदिन हो जायेगी। किसी भी राज्य में न्यूनतम मज़दूरी इसके आसपास भी नहीं है। असंगठित मज़दूर इस प्रकार उस मज़दूरी से भी वंचित हैं जोकि ग़रीबी की रेखा-स्तर पर टिक जाये।

एटक की, तथा हाल ही में हुई राष्ट्रीय समन्वय समिति की बैठक की भी, माँग है कि "किसी भी मज़दूर की मज़दूरी ग़रीबी रेखा-स्तर से कम नहीं होनी चाहिए।" ऐसा न करने का मतलब है मज़दूरों को ग़रीबी रेखा से भी नीचे जीवन जीने के लिए अभिशप्त कर देना, तथा उन्हें ग़रीबी रेखा से ऊपर उठाने के लम्बे-चौड़े वादों के बावजूद, इसे सरकारी स्वीकृति प्रदान कर देना। अधिकृत रूप से ऐसी मज़दूरी दरें तय करके जो विशाल जन-समूहों को ग़रीबी-रेखा के नीचे बनाये रखती हैं, बड़े हिस्सों को उसके ऊपर ले आने के दावे नहीं किये जा सकते।

यह तो आर-पार दिखने वाला ढोंग तथा धोखा है। क़ीमतों के बढ़ते हुए स्तर को ध्यान में रखकर, यूनियनों की यह भी माँग है कि उपभोक्ता मूल्य सूचकांक से जुड़े पर्याप्त महँगाई भत्ते के प्रावधान के ज़रिये पैसे के मूल्य-ह्रास से मज़दूरी की रक्षा की जानी चाहिए। ग़रीबी रेखा से ऊपर न्यूनतम मज़दूरी तथा उसके क्रियान्वयन के लिए संघर्ष असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों का प्रमुख नारा बन गया है।

—किन्तु इन आम मुद्दों के अलावा प्रत्येक प्रमुख असंगठित क्षेत्र विशेष क़ानून तथा उपायों की भी माँग करता है जोकि उसमें काम में लगे मज़दूरों की रक्षा कर सके। हम खेतिहर मज़दूरों के लिए व्यापक क़ानून की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। निर्माण एवं निर्माण सामग्री उद्योग के मज़दूरों के लिए भी ऐसे ही क़ानून की दरकार है। उनकी माँगों में पहचान-पत्र तथा पृथक मज़दूरी भुगतान पर्ची का प्रावधान, शिकमी ठेका तथा 'जमादारी' प्रणाली का उन्मूलन, उद्योग के लिए राष्ट्रीय मज़दूरी दर तथा समान सेवा-शर्तें, मन्दी के समय (यदि हो तो) भत्ता बनाये रखना, समान काम के लिए समान भुगतान, निर्माण-मज़दूरों को औद्योगिक मज़दूरों का दर्जा देना आदि सम्मिलित हैं।

—न्यायमूर्ति वी० आर० कृष्ण अय्यर की अध्यक्षता में 'निर्माण-मज़दूरों' के बारे में केन्द्रीय क़ानून के लिए राष्ट्रीय अभियान समिति गठित करके एक अगला क़दम उठा लिया गया है। इस समिति ने संसद के समक्ष एक मॉडल विधेयक का प्रारूप तथा उसके अन्तर्गत एक योजना प्रस्तुत कर दी है, जिसमें ये प्रावधान समाहित हैं: (1) राष्ट्रीय, राज्य एवं ज़िला स्तरों पर त्रिपक्षीय बोर्डों का गठन, (2) मज़दूरों तथा मालिकों का श्रेणियों के मुताबिक़ अनिवार्य पंजीयन, (3) चक्रानुक्रम (रोटेशन) के आधार पर भर्ती का नियमन, (4) कल्याण शुल्क आदि। मॉडल विधेयक के आधार पर राष्ट्रव्यापी अभियान लाखों निर्माण मज़दूरों को ट्रेड यूनियन आंदोलन की संगठित मुख्य धारा में आकृष्ट करने का उपयोगी तरीक़ा होगा। लेकिन फिर भी, अनुभव के आधार पर यह कहा जाना चाहिए कि चाहे नये क़ानून बन जाएँ, बोर्ड गठित हो जाएँ तथा निरीक्षक नियुक्त हो जाएँ, पर तब तक कोई फ़र्क़ पड़ने वाला नहीं है जब तक कि ट्रेड यूनियनें स्वयं ही मज़दूरों के हितों की 'रखवाली' न बन जाएँ। ज़रूरत है, 'संगठित करने की इच्छा-शक्ति की।

—यह कहना कि, असंगठितों को संगठित किया जाना चाहिए, तो एक तरह से एकदम उजागर बात को कहना ही है। फिर भी, जैसा हम देखते हैं, ट्रेड यूनियनों ने कुल मिलाकर अपने आप को संगठित क्षेत्र के अधिकांशतः स्थायी कर्मचारियों तक ही सीमित कर रखा है। ट्रेड यूनियनवाद का कुछ हद तक पार्श्व-विस्तार तो हुआ है पर विशाल असंगठित मज़दूर समूह के ठीक भीतर उसका संकल्पशील प्रवेश नहीं हो पाया है। ऐसा होने पर सम्पूर्ण मज़दूर आबादी को एक

वर्ग के रूप में संगठित करके तथा आम वर्ग-संघर्ष के लिए उन्हें अपने पक्ष में करके ही आंदोलन का गुणात्मक विकास सम्भव बनाया जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि चाह की कमी है, पर व्यावहारिक क़दम नगण्य ही रहे हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि नेक इरादे ही काफ़ी नहीं होते।

—अपने आंदोलन के दौरान यह याद रखना संगठित मज़दूरों ही की ज़िम्मेदारी है कि अपनी खुद की माँगें मनवा लेने मात्र से लड़ाई खत्म होने वाली नहीं है। दरअसल, ये सफलताएँ तो विशाल मेहनतकश जन-समूहों के अल्पमत हिस्से—जो संगठित हैं तथा लड़ाई छेड़ने में सक्षम व समर्थ हैं—से ही सम्बन्धित हैं। ये सफलताएँ विशाल बहुमत को कोई लाभ नहीं दिलातीं, सिवा इसके कि अप्रत्यक्ष रूप से उसके सामने एक उदाहरण प्रस्तुत कर देती हैं। और वह भी तब जबकि यह उदाहरण, यह सबक़ उन तक पहुँचा दिया जाये।

आज वह अवस्था आ गयी है जबकि असंगठित बहुमत तथा संगठित अल्पमत के बीच की खाई बढ़ती ही चली जायेगी जब तक कि संगठित मज़दूर स्वयं इस उद्देश्य को अपनाकर इसके समर्थन में अपनी आवाज़ बुलन्द करने न लग जायें। पूँजीपति वर्ग तथा उसके प्रचार-विशेषज्ञ इस चौड़ी होती खाई का इस्तेमाल एक हिस्से को दूसरे हिस्से के ख़िलाफ़ खड़ा कर देने के लिए, खुद संगठित मज़दूरों के लिए सामूहिक सौदेबाज़ी के क्षेत्र को प्रतिबन्धित करने के लिए कर रहे हैं जबकि स्वयं असंगठित मेहनतकशों के लिए मगरमच्छी आँसू बहाने के अलावा कुछ नहीं कर रहे हैं। कुछ सदाशय लोग भी वर्ग विभाजनों को अप्रासंगिक मानने लगे हैं तथा इसके स्थान पर तथाकथित ग़रीबी रेखा को आधार बनाकर, उसके ऊपर तथा नीचे, एक प्रकार का विभाजन प्रस्तुत करने लगे हैं जिनमें वे उन संगठित मज़दूरों को भी समाज के सम्पन्न तबक़ों के साथ रख देते हैं जोकि अपनी जीवन शैली को थोड़ा सुधार पाने में सफल हो गये हैं।

—इसलिए संगठित मज़दूरों को समूचे वर्ग व समाज के हित में अपने कमज़ोर असंगठित भाइयों को संगठन के दायरे में लाने के कार्यभार को स्वीकार करना चाहिए। इस कार्यभार को नज़रंदाज़ करने का मतलब है व्यापक वर्ग-संघर्ष तथा जनवादी संघर्ष के विकास को अवरुद्ध करना।

बार-बार यह सिद्ध हो चुका है कि जब असंगठित लोगों को संगठितों का नेतृत्व मिलता है तो वे भी बेहतर शर्तों तथा न्याय की माँगों पर उसी साहस व एकता के साथ लड़ते हैं। यह लड़ाई सिर्फ़ इस या उस हिस्से के लिए न्यूनतम मज़दूरी समिति गठित कर देने भर में निहित नहीं है, बल्कि यह तो पूँजी पर हमला बोलने के लिए तथा शोषण पर आधारित सम्पूर्ण व्यवस्था को बदलने के लिए समूचे मज़दूर समूह को लामबन्द करने का मुहिम (अभियान) है।

—आज से बहुत समय पहले, 1866 में, अन्तर्राष्ट्रीय मेहनतकश संघ की

साधारण सभा का प्रस्ताव तैयार करते हुए मार्क्स ने ट्रेड यूनियनों के भविष्य के कार्यभारों को इस रूप में प्रस्तुत किया था :

"अपने मूलभूत कार्यभारों के अलावा, ट्रेड यूनियनों को आज मज़दूर वर्ग को संगठित करने के लिए, उसकी संपूर्ण मुक्ति के बड़े हित में, सचेतन रूप से केंद्र-बिंदु के रूप में काम करना सीखना चाहिए। उन्हें उस लक्ष्य की ओर निर्दिष्ट प्रत्येक सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलन को समर्थन देना चाहिए। अपने आपको संपूर्ण मज़दूर वर्ग का पक्षधर (हिमायती) व प्रतिनिधि मानकर, तथा उसी के अनुरूप काम करके, ट्रेड यूनियनों को उन सभी मज़दूरों को अपने इर्द-गिर्द लामबन्द करने में सफल होना ही चाहिए जो अभी तक उनकी क़तारों में शामिल नहीं हो पाये हैं। उन्हें सबसे कम मज़दूरी वाले व्यवसायों में काम करने वाले मज़दूरों के हितों की हिफ़ाज़त करनी चाहिए—जैसे, उदाहरण के लिए, खेत मज़दूर जो अपनी विशिष्ट विपरीत परिस्थितियों के कारण अपनी प्रतिरोध शक्ति से वंचित हो गये हैं। उन्हें समूची दुनिया को इस बात का यक़ीन दिलाना चाहिए कि उनके प्रयत्न क़तई संकीर्ण तथा अहंवादी नहीं हैं, बल्कि इसके विपरीत पद-दलित विशाल जन-समूहों की मुक्ति की ओर निर्दिष्ट हैं।"

—महान अक्तूबर क्रांति से कुछ महीने पहले ही लेनिन ने भी रूस की तत्कालीन स्थिति—ख़ासकर देहाती मज़दूरों के संदर्भ में—इसी विषय का विवेचन किया :

"रूस में सभी वर्ग संगठित हो रहे हैं। सिर्फ़ वही वर्ग जो सबसे अधिक शोषित और सबसे अधिक दरिद्र, सबसे अधिक असंगठित और पददलित है—रूस के खेतिहर मज़दूर—भुला दिया गया लगता है।

"रूस के सर्वहारा वर्ग के हरावल—औद्योगिक मज़दूरों की ट्रेड यूनियनों का यह निर्विवाद तथा प्रमुख कर्तव्य है कि वे अपने भाइयों—देहाती मज़दूरों की मदद के लिए आगे आयें···सर्वहारा के अधिक अनुभवी, अधिक उन्नत तथा अधिक वर्ग-सचेतन प्रतिनिधियों को देहाती मज़दूरों का आह्वान करना ही चाहिए कि वे उनके साथ शामिल हों—यानी स्वतंत्र रूप से गठित हो रहे मज़दूरों की क़तारों में, उनकी ट्रेड यूनियन की क़तारों में शामिल हों। कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों को ही पहल करनी होगी तथा समूचे रूस में फैली हुई अपनी ट्रेड यूनियन इकाइयों, समूहों व शाखाओं का इस्तेमाल देहाती मज़दूर को जाग्रत करके, उसकी अपनी स्थिति को सुधारने के संघर्ष में सक्रिय भागीदारी निभाने तथा अपने वर्ग-हितों को प्रोत्साहन-समर्थन देने को प्रेरित करने के लिए करना होगा। "हमें यह उम्मीद है कि इस क्रांतिकारी घड़ी में···ट्रेड यूनियनें अपने आपको संकीर्ण दस्त-कारी-हितों तक सीमित रखके अपने कमज़ोर भाइयों—देहाती मज़दूरों—को भूल नहीं जायेंगे, बल्कि रूस के देहाती मज़दूरों की यूनियन स्थापित करके उनकी

सहायता करने में अपनी सारी शक्ति, सारी ऊर्जा को लगा देंगे।"

इसके बाद लेनिन ने इस दिशा में कुछेक व्यावहारिक क़दमों की रूपरेखा भी प्रस्तुत की :

"सभी संगठित मज़दूरों को शहरी तथा देहाती मज़दूरों की एकता को बढ़ावा देने तथा सुदृढ़ करने के लिए एक दिन की मज़दूरी-राशि देनी चाहिए। इस कोष (फ़ण्ड) का इस्तेमाल सर्वाधिक लोकप्रिय पर्चों की शृंखला निकालने तथा देहाती मज़दूरों का अख़बार छापने पर तथा कुछ आंदोलनकारियों व संगठनकर्ताओं को देहात में भेजने पर किया जाना चाहिए ताकि वे विभिन्न इलाक़ों में खेतिहर मज़दूरों की यूनियनें तुरन्त क़ायम कर सकें।"

(लेनिन : संकलित रचनाएँ : खंड 25, पृ० 122-24)

—इस कार्यभार की ज़िम्मेदारी लेने में अथवा इस या उस रूप में इस काम में अपना योगदान करने में संगठित ट्रेड यूनियनों के नेताओं की विफलता का अर्थ होगा अपने आपको एक ऐसे संकीर्ण पंथ में तब्दील कर लेना जिसके दृष्टि-क्षितिज की सीमाएँ मात्र उनके अपने ट्रेड यूनियन हितों से (इससे अधिक किसी भी अन्य चीज़ से नहीं) निर्धारित होती हैं।

—जैसाकि वडोदरा में आयोजित एटक के 33वें अधिवेशन में प्रस्तुत महामंत्री की रिपोर्ट में उल्लेख किया गया, एक अच्छी शुरुआत हो गयी है। कुछ यूनियनों[1] ने आगे आकर कोष जमा किये हैं जिनका एकमात्र लक्ष्य असंगठितों को संगठित करना है। कई राज्यों के विशाल असंगठित मज़दूरों के बीच काम करने के लिए संगठनकर्ता भेजे गये हैं। जहाँ कहीं भी यह काम गम्भीरता से लिया गया है, वहाँ से प्राप्त प्रतिक्रिया को आधार मान लें तो अपार संभावनाएँ दिखायी देती हैं। खेतिहर मज़दूरों, निर्माण मज़दूरों, ठेका मज़दूरों के बीच न्यूनतम मज़दूरी दरों में संशोधन, उनके क्रियान्वयन तथा अन्य लाभों के लिए संघर्ष ज़ोर पकड़ने लगा है। स्थिति परिपक्व है। बस प्रयत्नों को कई गुना बढ़ाया जाना है। डॉ० शांता वैद्य द्वारा बम्बई के असंगठित मज़दूरों के बीच किये गये अपने सर्वेक्षण के नतीजों को प्रकाशित करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अधिकांश मज़दूर यूनियनों में शामिल होने को तैयार थे बशर्ते उनसे संपर्क किया जाये। यदि वे अभी तक सदस्य नहीं थे तो इसका कारण यह था कि 'किसी भी यूनियन ने हमसे संपर्क ही नहीं किया।' जो बात बम्बई के बारे में सही है, वही अन्य स्थानों पर भी लागू होती है क्योंकि जन-संचार ने 'चेतना के बीजों' को क़रीब-क़रीब हर जगह पहुँचा दिया है।

—इस कार्यभार की चुनौती को स्वीकार करने वाले संगठनकर्ताओं को उस

---

1. इसका उल्लेखनीय उदाहरण महिंद्रा एण्ड महिंद्रा कर्मचारी यूनियन (एटक) है जिसने 1986 में इस सुनिर्दिष्ट कोष में क़रीब एक लाख रुपये जमा किये हैं।

ख़ास हिस्से की परिस्थितियों के—उसके हालात के— अध्ययन को प्रस्थान-बिंदु बनाना चाहिए जिससे वे संपर्क करते हैं। उसके बाद उन्हें वह मुद्दा उठाना चाहिए जिसके इर्द-गिर्द उस हिस्से के बहुमत को लामबन्द किया जा सकता हो, तथा इसी से वह कार्य-नीति निर्धारित करनी होगी जोकि उन्हें आंदोलन में खींच सके तथा उन्हें संगठनबद्ध कर सके। स्थितियों की विविधता विविध समाधानों की माँग करेगी। स्थानीय संगठित यूनियनों, ज़िला ट्रेड यूनियन काउंसिलों तथा राज्य ट्रेड यूनियन समितियों को आवश्यक वित्तीय सहायता तथा सांगठनिक समर्थन लेकर आगे आना होगा।

ज़रूर पढ़ें :

1. एटक की रिपोर्ट तथा 33वें अधिवेशन की सूचना-सामग्री
2. निर्माण मज़दूरों संबंधी ड्राफ़्ट विधेयक

पाठ : 24

नयी प्रौद्योगिकी : इसके क्या मायने हैं

—'प्रौद्योगिकी', 'नयी प्रौद्योगिकी', 'उच्च प्रौद्योगिकी', 'कंप्यूटरीकरण', 'आधुनिकीकरण' आदि की चर्चा इन दिनों अक्सर सुनाई पड़ती है—चाहे विशेष उद्योग के संबंध में अथवा समूचे राष्ट्रीय विकास के संबंध में। यह तर्क दिया जाता है कि अर्थव्यवस्था की तथा सामाजिक जीवन की विभिन्न शाखाओं में नयी प्रौद्योगिकी को प्रविष्ट करके ही तीव्र विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है। यह दावा किया जाता है कि 'उच्च प्रौद्योगिकी' के पंखों (डैनों) पर सवार होकर ही देश आधुनिक राष्ट्र के रूप में, अन्य राष्ट्रों के समकक्ष, 21वीं शताब्दी में आगे बढ़ सकता है। अभी तो ट्रेड यूनियनों को इस सवाल का व्यावहारिक व ठोस सामना उत्पादन की कुछेक परिष्कृत (जटिल) शाखाओं में, सेवा तथा संचार उद्योगों में तथा शोध और सामग्री संसाधन के क्षेत्र में ही हो रहा है। किंतु 'प्रौद्योगिक हमला' बढ़-विकसित हो रहा है, और कम-से-कम अग्रणी सक्रिय ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं के लिए यह ज़रूरी होता जा रहा है कि वे इस विषय के संबंध में साधारण परिचय तो प्राप्त कर ही लें ताकि उन्नति एवं विकास में इसकी भूमिका, राष्ट्र के लिए इसके परिणामों, स्वयं मज़दूरों पर इसके प्रभावों, तथा 'विकल्पों' (यदि कोई हों तो) आदि के संबंध में चर्चा करने की स्थिति में आ सकें। आज प्रौद्योगिकी संबंधी पुस्तकों एवं लेखन का निरंतर बढ़ता अंबार लगता जा रहा है। इसलिए हम विभिन्न तकनीकी तथा अन्य पक्षों को वैज्ञानिकों और प्रौद्योगिकीविदों पर, प्रौद्योगिकी के प्रवर्त्तकों तथा उपभोक्ताओं पर छोड़ देते हैं। ट्रेड यूनियन से जुड़े हम लोगों का उद्देश्य सीमित है। शुरुआत के लिए :

—प्रौद्योगिकी क्या है? मोटे तौर पर, उपलब्ध मानव एवं भौतिक संसाधनों पर व्यवस्थित ज्ञान का प्रयोग ही प्रौद्योगिकी है, जिसका उद्देश्य मनुष्य के हित में, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उक्त संसाधनों का अनुकूलतम व श्रेष्ठतम उपयोग करना है। उत्पादन प्रक्रिया, संचार अथवा सेवाएँ प्रदान करने के क्षेत्र में प्रयुक्त यह ज्ञान ही प्रौद्योगिकी है। ज्ञान तथा अनुभव—चाहे वैज्ञानिक, औद्योगिक,

प्रबंधकीय, वाणिज्यिक अथवा नव तकनीकी—का संचय ही प्रौद्योगिकी है।

—औद्योगिक क्रांति के काल में विज्ञान—यानी भौतिकी, यांत्रिकी, रसायन विज्ञान, गणित आदि—ने प्रौद्योगिकी पर परोक्ष रूप से प्रभाए डाला। जहाँ विज्ञान ने, उदाहरण के लिए भाप से प्राप्त शक्ति (विद्युत शक्ति) की खोज की, अन्वेषक ने उसे भाप के इंजन पर लागू कर दिया। बहरहाल, आधुनिक काल में विज्ञान प्रौद्योगिकी को सीधे प्रभावित करने लग गया है। स्वयं विज्ञान तथा वैज्ञानिक खोजों के फलों को उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रूप से काम में लिया जा रहा है। वैज्ञानिक क्रियाकलाप का उत्पादक क्रियाकलाप में विलय तेज़ी से तथा अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। भौतिक उत्पादन की प्रौद्योगिक आधारशिला के आमूल परिवर्तनवादी रूपांतरण— जो विज्ञान के चहुँमुखी विकास तथा भौतिक जीवन पर उसके प्रयोग द्वारा संभव हुआ—तथा प्रत्यक्ष उत्पादक शक्ति के रूप में उसके रूपांतरण ने एक नयी क्रांति का सूत्रपात किया जिसे वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति के रूप में जाना जाता है।

—वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति ने द्वितीय विश्व युद्ध के एकदम पहले के काल में तथा युद्धकाल में आकार ग्रहण करना प्रारंभ किया तथा उसके बाद, युद्धोत्तर वर्षों में बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ी। इसने नये कच्चे माल को, नयी प्रक्रियाओं को, नये ऊर्जा संसाधनों को, नये ज्ञान को जन्म दिया है। इसने उत्पादक प्रक्रिया में, तथा उसके श्रम के स्वरूप में मनुष्य के स्थान को आमूल परिवर्तित कर दिया है। इसने वैज्ञानिक ढंग के अनुरूप सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रबंधन को संगठित करने की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं। इसे यूँ समझा जा सकता है :

—नायलोन प्रौद्योगिकी विकसित की गयी तथा नये उत्पाद ने 1938 में बाज़ार में प्रवेश किया। इसके बाद पालिएस्टर रेशा प्रौद्योगिकी का विकास हुआ पालिएस्टर रेशों का जन्म हुआ। इसके चलते नायलोन तथा पालिएस्टर अनुभव पर आधारित नये उत्पादों के शृंखलाबद्ध अन्वेषण व खोजें हुईं। युद्ध की ज़रूरतों ने सैन्य शोध एवं विकास की गति तेज़ कर दी, जिसने कृत्रिम (सिंथेटिक) रेशे, कृत्रिम तेल, पेट्रो-रसायनों एवं रसायनों के क्षेत्र में उत्पादन (निर्माण) प्रौद्योगिकियों को तो जन्म दिया ही, जेट हवाई जहाज़, रडार, एटम बम के अन्वेषणों तक को जन्म दिया। युद्ध के बाद टेलिविज़न तथा इलेक्ट्रॉनिकी पर आधारित कंप्यूटर तथा सामग्री प्रौद्योगिकियों का जन्म हुआ। आणुविक ऊर्जा के शांतिमय उपयोग के ज़रिये बिजली उत्पादन, अंतरिक्ष अन्वेषण ('स्पुतनिक' छोड़ने तथा बाह्य अंतरिक्ष में गागारिन की उड़ान के साथ जिसका नाटकीय श्रीगणेश हुआ); सूक्ष्म-संसाधकों (माइक्रो प्रॉसेसरों) के ज़रिये सूचना-प्रबंधन आदि का भी प्रवर्तन हुआ। ज्ञान, अनुभव तथा नित नयी प्रौद्योगिक खोजों (नव्य प्रयोगों) से अर्जित संभावनाओं-क्षमताओं के संचय का उत्पादन एवं उत्पादकता पर ज़बर्दस्त गतिशील

प्रभाव पड़ रहा है। इतिहास में पहली बार, प्रत्येक मनुष्य के भौतिक एवं सांस्कृतिक स्तरों को ऊपर उठाने, पृथ्वी पर से ग़रीबी, भूख, रोग, निरक्षरता का नामोनिशां मिटाने की असीम संभावनाओं के द्वार खुल रहे हैं, बशर्ते वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति को सामाजिक प्रगति की सेवा में लगाया जा सके, तथा वास्तव में उसका इस्तेमाल समाज के सभी सदस्यों के सर्वोच्च कल्याण (ख़ुशहाली) के लिए किया जा सके।

—वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति ने मनुष्य की सर्जनात्मक क्षमताओं तथा समाज की सर्जनात्मक शक्तियों के संदर्भ में आगे की ओर एक बड़ी छलाँग को जन्म दिया है। साथ ही, इसने विनाश की शक्ति—स्वयं मनुष्य को तथा उस ग्रह[1] को जिसका वह निवासी है, नष्ट करने की शक्ति—को भी बेतहाशा बढ़ा दिया है। समूची मानवता इस बात से बेहद त्रस्त है कि जहाँ एक ओर वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति के पास मनुष्य का भला करने की ज़बर्दस्त सामर्थ्य है, वहीं दूसरी

---

1. साम्राज्यवादी देशों में अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए विशाल कोष ख़र्च किये जा रहे हैं। इस निमित्त विशाल (अकल्पनीय) राशियाँ स्थानांतरित की जा रही हैं। अत्यंत योग्य व प्रतिभाशाली शोधार्थी तथा इंजीनियर मानव जाति के जीवित बचे रहने के लिए ख़तरा व चुनौती बने हथियारों के निर्माण के लिए शोध एवं विकास में संकेंद्रित हैं।

   सैन्य उत्पादन में वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग नागरिक शाखाओं में उसके उपयोग से कई गुना अधिक हो गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेषज्ञों ने हिसाब लगाया है कि द्वितीय विश्व युद्ध से अब तक शोध एवं विकास पर जो धन ख़र्च किया गया है उसका क़रीब 40 प्रतिशत सीधे सैन्य उद्देश्यों के लिए किया गया है, तथा दुनिया के कुल वैज्ञानिकों का एक-चौथाई भाग सैन्य प्रौद्योगिकी को और सुधारने तथा नयी क़िस्म के हथियार विकसित करने के काम में लगे हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि नयी प्रौद्योगिकी नागरिक (ग़ैर-सैन्य) शाखाओं के लिए भी उपयोगी है। दरअसल, संयुक्त राज्य अमरीका के वाणिज्य विभाग के अनुसार, युद्ध उद्योग से नागरिक उद्योगों में प्राविधिक एवं प्रौद्योगिक नव्य प्रयोगों का सिर्फ़ 5 प्रतिशत ही स्थानांतरित किया जाता है। इसी में सोवियत संघ की ओर से किये जाने वाले विभिन्न शांति प्रस्तावों का महत्व अंतर्निहित है, जोकि नाभिकीय हथियारों तथा जनसंहार के अन्य हथियारों में पहले तो कटौती की तथा अंततः उन्हें नष्ट करने की माँग करते हैं, ताकि 21वीं शताब्दी में नाभिकीय हथियार-मुक्त दुनिया में प्रवेश किया जा सके, तथा इस प्रकार मुक्त हुए संसाधनों का इस्तेमाल मानव जीवन की गुणवत्ता को सुधारने में किया जा सके।

ओर यह उसके अस्तित्व के लिए ख़तरा बनकर भी मँडरा रही है। यह अलादीन के चिराग़ से मुक्त जिन्न की तरह है। क्या यह अच्छी चीज़ है या बुरी चीज़ है? इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सत्ता किसके पास है तथा वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति पर नियंत्रण किसका है। क्या यह ऐसा समाज है जहाँ सामाजिक उत्पादन पर सामाजिक नियंत्रण है तथा जहाँ सामाजिक श्रम का उपयोग पूरी तरह से (तथा मात्र) सभी मनुष्यों के भले के लिए किया जाता है? अथवा यह ऐसा समाज है जहाँ सामाजिक श्रम के फलों को बेतहाशा मुनाफ़ों के आकाँक्षी चंद मुट्ठी भर पूँजीपति हड़प जाते हैं? सर्वाधिक परिष्कृत कंप्यूटर अथवा रोबोट भी पूँजीवादी उत्पादन की सार-वस्तु को नहीं बदल सकता। पूँजीपति जब तक मुनाफ़ा कमाता रहे उसके लिए यह बात बेमानी है कि वह टैंक का उत्पादन करता है या खिलौने का, वह एटम बनाता है अथवा शांतिपूर्ण उपयोग के लिए नाभिकीय ऊर्जा।

दरअसल, वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति मनुष्य को जिस बड़े पैमाने पर शक्ति—सर्जनात्मक एवं ध्वंसात्मक दोनों ही रूपों में—प्रदान करती है, उसी से यह अत्यावश्यक (अवश्यकरणीय) हो जाता है कि ऐसी शक्ति अपना उल्लू सीधा करने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह में निहित न होकर, समूचे समाज में निहित होनी चाहिए। यह उत्पादन के सामाजिक स्वरूप तथा फल-अपहरण (मुनाफ़ा हड़पने की क्रिया) के वैयक्तिक स्वरूप के अंतर्विरोध को (जोकि पूँजीवादी समाज[1] में अर्तनिहित है) ख़त्म कर देने की ज़रूरत को पहले कभी से कहीं अधिक रेखांकित करती है। वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति ने जिन अनंत संभावनाओं के द्वार खोल दिये हैं, उन्हें सभी के भले के लिए उपयोग में लाने का काम एक भिन्न व्यवस्था—पूँजीवाद से अधिक न्यायप्रिय, यानी समाजवादी व्यवस्था—में ही किया जा सकता है। लेनिन के शब्दों में, "अँधेरे की कोई भी शक्तियाँ वैज्ञानिकों, सर्वहारा तथा प्रौद्योगिकीविदों के सहबंध का मुक़ाबला नहीं कर सकतीं।"[2]

—सार रूप में, यह कहा जा सकता है कि आज के युग की क्रांतिकारी प्राविधिक उन्नति (सूक्ष्म प्रौद्योगिकी, इलेक्ट्रॉनिक सामग्री संसाधन, रोबोट विज्ञान

---

1. देखिये, विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की 11वीं कांग्रेस को **इब्राहिम ज़कारिया** द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट : "नयी प्रौद्योगिकी द्वारा उत्पन्न की गयी समस्याएँ एक ओर तो उत्पादक शक्तियों की विशाल वृद्धि तथा उसके सामाजिक स्वरूप, तथा दूसरी ओर इन ज़बर्दस्त उत्पादक संसाधनों पर उत्पादक संघों तथा इजारेदारियों से गठित नन्हे-से अल्पमत के स्वामित्व व नियंत्रण के बीच तीक्ष्ण अंतर्विरोध को साफ़ तौर पर उजागर कर देती हैं।"
2. **लेनिन**, संकलित रचनाएँ, खंड 30, पृ० 402

आदि) अपने स्वभाव तथा समग्र प्रभाव में, उत्पादन के साधनों व विधियों में हुए पूर्ववर्ती परिवर्तनों से गुणात्मक रूप से भिन्न है। हमने पहले भी अनुभव किया है तथा परंपरागत तरीक़ों[1] से बुद्धिसंगत व्याख्या का सामना करने की कोशिश की है। उदाहरण के लिए, एक करघे की जगह दो करघों, और फिर चार करघों, और ऐसे ही इस प्रतिस्थापन को आज के स्वचालित करघों की अवस्था तक बढ़ाते जाना। कभी तो मौजूदा मशीनों के हलके से पुनर्गठन अथवा गति बढ़ा देने के परिणाम स्वरूप प्रति मज़दूर कार्य-भार में सीधी वृद्धि हो जाती थी, और कभी बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए वाहक पट्टा प्रणाली की शुरुआत, जहाँ प्रत्येक प्रक्रिया

---

1. आज से सवा-सौ साल से भी अधिक पहले लिखते हुए मार्क्स ने यह बताया था कि आधुनिक उद्योग ने किस तरह हरेक उत्पादन प्रक्रिया का उसके संघटक तत्वों में समाहार करके (मनुष्य के हाथ द्वारा उनके संभाव्य निष्पादन की परवाह किये बग़ैर) प्रौद्योगिकी के नये विज्ञान को जन्म दिया था। वह इस घटनाक्रिया के नकारात्मक पहलू को चित्रित करते हुए कहते हैं "आधुनिक उद्योग की प्राविधिक आवश्यकताओं तथा पूँजीवादी रूप तत्त्व में अंतर्निहित सामाजिक स्वरूप के बीच का परम अंतर्विरोध कैसे मज़दूर की स्थिति में तमाम स्थायित्व व सुरक्षा को दूर कर देता है, कि यह उसके हाथों से श्रम के उपकरणों को छीनकर कैसे उसके हाथों से उसके गुज़ारे के साधनों को भी छीन लेने की धमकी देता है तथा कैसे उसके विस्तृत काम का दमन करके उसे फ़ालतू घोषित कर देने की धमकी देता है···कैसे यह विरोध (वैपरीत्य) उस असंगति—औद्योगिक आरक्षी फ़ौज—के सृजन में—उक्त फ़ौज को विपदाग्रस्त इसीलिए रखा जाता है कि वह सदा पूँजी के रहमो-करम पर बनी रहे : मज़दूर वर्ग के बीच अनवरत मानवीय बलि में, श्रम शक्ति के बेहद लापरवाही-भरे अपव्यय में, तथा सामाजिक अराजकता द्वारा उत्पन्न विध्वंस—जोकि प्रत्येक आर्थिक प्रगति को सामाजिक विपत्ति में बदल देती है—में अपना क्रोध अभिव्यक्त करता है।" (पूँजी, खंड 1, पृ० 486-87)

यदि उत्पादन के उपकरणों में पारंपरिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप यह सब हुआ, तो मौजूदा वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप तो कितना और अधिक होगा ?

उसके पूर्व मार्क्स ने यह बताया था कि समय एवं अनुभव के साथ मज़दूर मशीनों तथा पूँजी द्वारा उनके इस्तेमाल में फ़र्क़ जान गये हैं, और इसलिए भौतिक उत्पादन के उपकरणों पर हमला न करके उस विधि पर हमला करना सीख गये हैं जिसमें कि उनका इस्तेमाल होता है। मौजूदा स्थिति के बारे में भी यही सच है।

का समाहार उसकी संघटक गतियों में हो जाता है, और जहाँ मशीनें उन कुछ हरकतों का स्थान ले लें जोकि पहले मनुष्य के हाथों व पैरों से चालित होते थे। उत्पादन के उपकरण तथा उनके साथ-साथ उत्पादक शक्तियों के संघटन में स्वचालन की अवस्था में पहुँचने तक निरंतर परिवर्तन घटित होते रहे थे।

—स्व-चालन में उत्पादन की वह स्वचालित प्रक्रिया निहित हो सकती है जिसमें सामग्री का उठाना-धरना न के बराबर हो जैसे कपड़ा मिलों में स्वचालित करघों के मामले में होता है; या, स्वचालित नियंत्रण एवं वास्तविक स्व-नियमन जैसा आधुनिक बिजली उत्पादन संयंत्र में होता है; अथवा इलेक्ट्रॉनिक कंप्यूटरों के उपयोग में, जहाँ मनुष्य के मस्तिष्क द्वारा किये जाने वाले कई प्रकार्य—स्मृति भंडारण, सामग्री संसाधन तथा सांख्यिकी नियंत्रण, प्रश्नों के उत्तर तथा निष्पादन के आदेश—एक मशीन को स्थानांतरित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार, स्वचालन अधिक उन्नत यांत्रीकरण मात्र नहीं है। यह एक नयी प्रणाली है, उत्पादन की प्रौद्योगिक प्रगति की एक नयी अवस्था है।

—वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति का श्रम-प्रक्रिया में भागीदार के रूप में मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? मार्क्स ने स्पष्ट कर दिया था—"श्रम सर्वप्रथम तो वह प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य तथा प्रकृति दोनों ही भाग लेते हैं, और जिसमें मनुष्य अपनी स्वयं की इच्छा से अपने तथा प्रकृति के बीच भौतिक प्रतिक्रियाओं को शुरू, नियमित व नियंत्रित करता है। वह स्वयं को—प्रकृति की शक्तियों में से एक के रूप में—प्रकृति के विरुद्ध खड़ा कर लेता है तथा अपनी बाँहों व टाँगों, सिर व हाथों, अपने शरीर की नैसर्गिक शक्तियों को गति देता है ताकि प्रकृति के उत्पादनों को अपनी स्वयं की ज़रूरतों के अनुकूलित रूप में अपना सके। **बाह्य जगत पर इस प्रकार क्रिया करके तथा उसे बदलकर, वह साथ ही अपनी स्वयं की प्रकृति को भी बदलता है।** वह अपनी सोयी हुई शक्तियों को विकसित करता है तथा उन्हें अपने नियंत्रण की आज्ञाकारिता में क्रियाशील रहने को बाध्य करता है।" (ज़ोर हमारा)

—उत्पादक शक्तियों के विकास की प्रत्येक अवस्था ने मज़दूर वर्ग के, तथा उसकी इकाई—'सामूहिक श्रम'[1] के विशिष्ट विकास को जन्म दिया है। आधुनिक प्रौद्योगिक प्रगति एक नये क़िस्म के मज़दूर को गढ़ रही है जिसमें शारीरिक एवं मानसिक श्रम का संयोजित रूप विद्यमान है। जहाँ कुछ मामलों में परिणामी संयोजन का झुकाव नैत्य तथा आवृत्तिमूलक (दोहरानेवाला) बन जाने की ओर होता है, वहीं कुछ अन्य मामलों में बौद्धिक कर्म का तत्त्व निरंतर विकसित होता जाता है।

---

1. मार्क्स, पूँजी, खंड 1, पृ० 348

—सर्वाधिक उन्नत एवं परिष्कृत कंप्यूटर अथवा रोबोट भी, किसी भी हाल में मनुष्य का स्थान नहीं ले सकता।[1] जो वैज्ञानिक कल्पना में उस संभाव्य घटना के दर्शन कर रहे हैं, जब मनुष्य एक 'बुद्धिमान' मशीन के अधीनस्थ होगा, मानव-विरोधियों के अलावा कुछ नहीं हैं। "मनुष्य ही सब चीज़ों का मापदंड है"—यह उक्ति वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति की सर्वाधिक उत्तेजक व चमत्कारी उपलब्धियों के बावजूद सही है। एक सोवियत लेखक ने इसे निम्नलिखित शब्दों में अत्यंत सुंदर ढंग से व्यक्त किया है :

"अपने दोषपूर्ण शरीर से युक्त मनुष्य, अपने हृदय— जो दुख-सुख से टूट सकता है—से युक्त, अपनी तमाम खुशियों व ग़मों, अपनी कल्पना एवं सर्जनात्मकता से युक्त, दुनिया के बारे में ऐसी दृष्टि से सम्पन्न, जोकि कंप्यूटर के लिए असम्भव है, अपने सौंदर्यबोध से तथा उसका आनन्द लेने की सामर्थ्य से सम्पन्न—यही नहीं दुखी होने तथा उसकी आत्मिक एवं नैतिक आशाएँ साकार न होने पर मर जाने तक में समर्थ, यह आधुनिक मनुष्य अभी भी अद्‌भुत है। **मुझे पता नहीं कि कंप्यूटर कभी भी उस जैसे हो पायेंगे।**

—ट्रेड यूनियनों के सक्रिय कार्यकर्ता जो मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए, शोषण व अन्याय के खात्मे के लिए, मनुष्य को पदावनत करने वाली किसी भी चीज़ का अन्त करने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, वे विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के संबंध में इस मानवतावादी नज़रिये को अवश्य ही अपनायेंगे।

—सक्रिय ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं के रूप में हम अगले पाठ में इस प्रश्न के कुछ अन्य पहलुओं के अध्ययन की ओर बढ़ेंगे।

—अभी तक कंप्यूटरों के चार वंश (पीढ़ियाँ) हुए हैं। अधिकांश उन्नत देशों में पाँचवें वंश के कंप्यूटरों का सृजन करने के प्रयास जारी हैं, पर अभी तक कोई खास सफलता नहीं मिली है। पाँचवीं पीढ़ी की प्रौद्योगिकी का लक्ष्य अन्य चीज़ों के अलावा, 'कृत्रिम बुद्धि' निर्मित करना अथवा किन्हीं रूपों में मानव-बुद्धि का सादृश्य (निकट पहुँचना) निर्मित करना है, ताकि विशिष्ट क्षेत्रों में समस्याओं के समाधान के लिए मशीनों को फैलाया जा सके जो मानव विशेषज्ञों की भाँति कुशलता से, पर द्रुतगति से काम कर सकें। तथाकथित सुपर कंप्यूटर इस अर्थ

---

1. आजकल हर जगह कंप्यूटरों, उनकी तथाकथित 'वंशावली', प्रयोजन, उपभोक्ता (प्रयोक्ता) संघट्ट, हार्डवेयर व सोफ़्टवेयर आदि की बेहद चर्चा हो रही है। इनमें से कुछ मुद्दों पर यहाँ हम एक बुद्धिमान ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता के मार्ग-दर्शन के लिए एक चार्ट नत्थी कर रहे हैं तथा बुनियादी जानकारी के लिए उसके संबंध में कुछ टिप्पणियाँ भी दे रहे हैं। जैसा हमने ऊपर कहा, जटिल प्राविधिक मुद्दों का विवेचन करना हमारा काम नहीं है।

कंप्यूटर वंशावली

युग	काल-अवधि	प्रौद्योगिकी	प्रयोजन	प्रयोक्ता संघट्ट
लौह युग	1951-1958	शून्य नलिका	प्रशासकीय	लेखाकार
प्रत्याशा युग	1959-1963	ट्रांज़िस्टर	मुख्य धारा	नियंत्रक
प्रचुर-उद्भवन युग	1964-1970	संघटित परिपथ (सर्किट)	संचार	प्रौद्योगिकीविद
पुनर्जागरण	1971-1979	मध्यम सोपान संघटित/ विशाल सोपान संघटित	तथ्य-आधार	मध्यम प्रबंधन
स्वर्ण युग	1980	अति विशाल सोपान संघटित	वर्गीकृत/ तथ्य-आधार	सामरिक (रणनीतिक) प्रबंधन

में पाँचवीं पीढ़ी के कंप्यूटर नहीं हैं। वे चौथी पीढ़ी के कंप्यूटरों के अति विकसित, अधिक तीव्रतर संस्करण हैं—चाहें तो उन्हें चौथी और पाँचवीं पीढ़ी के कंप्यूटर कह सकते हैं। उन्हें 'कला की अवस्था' कंप्यूटर का नाम भी दिया गया है।

—मोटे तौर पर, कंप्यूटर प्रौद्योगिकी का अर्थ हार्डवेयर तथा सोफ़्टवेयर दोनों ही होते हैं, पर आमतौर से उसे पहले के अर्थ में ही लिया जाता है।

—हार्डवेयर सम्पूर्ण मशीन/कंप्यूटर की भौतिक आकृति, यानी मुद्रक, दृश्य-प्रदर्शन पर्दा तथा केंद्रीय संसाधन इकाई (जोकि कंप्यूटर का हृदय होती है तथा जहाँ समस्त गणनाएँ की जाती हैं)।

—सोफ़्टवेयर निर्देशों, आदेशों, योजनाओं का कुल योग होता है—जो कंप्यूटर में भरी जाती हैं तथा जो कंप्यूटर से किसी खास प्रकार्य को सम्पादित कराती हैं।

हार्डवेयर तथा सोफ़्ट वेयर दोनों ही कंप्यूटर के अभिन्न अंग होते हैं।

पाठ : 25

नयी प्रौद्योगिकी का असर : भिन्न सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में

भारत में 'नयी प्रौद्योगिकी' की समस्या कितनी वास्तविक है ? क्या सक्रिय ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं को इसे लेकर परेशान होना चाहिए अथवा इसे स्वप्नदर्शियों (या योजना-निर्माताओं) के भरोसे छोड़ देना चाहिए ? 60 के दशक में, ट्रेड यूनियन नेतृत्व को जीवन बीमा निगम में स्वचालन का श्रीगणेश करने की योजना के विरोध में खड़ा होना ही पड़ा था। एक के बाद एक, कई 'स्व-चालन विरोधी सम्मेलन'[1] आयोजित किये गये तथा मौजूदा और संभावनायुक्त रोज़गार को खतरे का विरोध लामबंद किया गया। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया के मुख्य कार्यालयों में कम्प्यूटरों के संस्थापन के ख़िलाफ़ भी छिटपुट प्रतिरोध संगठित किया गया। स्वचालन अभियान तब और बाद में काफ़ी हद तक धीमा कर दिया गया, चाहे पूरी तरह बन्द न भी किया गया—आंशिक रूप में जिसका कारण ट्रेड यूनियनों द्वारा किया गया यह प्रतिरोध था। पर इसके अन्य महत्वपूर्ण कारणों में से कुछ ये थे : उच्च निवेश लागतें, विदेशी सप्लायरों द्वारा ताज़ा माडल उपलब्ध कराने में कोताही, नयी प्रणालियों को संस्थापित करने के लिए आधारभूत सुविधाओं का अभाव, सीमित बाज़ार से उत्पन्न परिसीमित 'प्रौद्योगिक गतिशीलता' तथा परिष्कार की कमी (जोकि विशाल जन-समुदायों की ग़रीबी का परिणाम है)। इस विषय पर घोषणाएँ ज़्यादा हुई हैं, वास्तविक क्रियान्वयन कम। अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ तथा भारतीय बैंक संघ के बीच 8.9 1983 को

---

1. बीमा कर्मचारी संघ द्वारा आयोजित पहला स्व-चालन विरोधी सम्मेलन 7-8 दिसम्बर, 1965 को दिल्ली में हुआ था। इसमें सभी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों ने तथा अनेक औद्योगिक फ़ैडरेशनों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।

यांत्रीकरण। कम्प्यूटरीकरण संबंधी समझौता भी कई क्षेत्रों में अक्रियान्वित पड़ा रहा।

—**किन्तु नये राजीव गांधी शासन के तहत, एक नयी नीति पहलक़दमी घोषित हुई** तथा आधुनिकीकरण तथा प्रगति के प्रमुख कारक के रूप में **कंप्यूटरीकरण** अभियान ज़ोर-शोर से छेड़ा गया। इस प्रकार, नवम्बर 1984 में सरकार ने नयी कंप्यूटर नीति घोषित की तथा उसके कुछ समय बाद 1985 में नयी इलेक्ट्रॉनिक नीति तथा आयात-निर्यात नीति घोषित की। विभिन्न आयामों तथा क्षमताओं वाले कंप्यूटर अनेक उद्योगों, दफ़्तरों, एयरलाइंस, रेलवे, दूर-संचार सेवाओं, शोध संस्थानों, बैंकों आदि में संस्थापित होने लगे। कई सरकारी तथा व्यापारिक हलकों में, सार्वजनिक क्षेत्र के कार्यकारी अधिकारियों समेत, कंप्यूटर की धुन लग गयी, धूम मच गयी। कई क्षेत्रों में इसकी शुरुआत को न तो प्राथमिकता योग्य आवश्यकताओं, और न विकल्पों के सावधान आकलन के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है। पहले जो पतली-सी धार के रूप में शुरू हुआ था, वह बढ़कर अब बाढ़ का रूप धारण करने लगा है।

—**बिज़नेस वर्ल्ड** में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार :

"1984 में देश में क़रीब 1200 कंप्यूटर प्रणालियाँ बेची गयी थीं तथा (विक्रय की) यह संख्या 1990 तक बढ़कर हर साल 10 हज़ार प्रणालियों तक पहुँच जाने का पूर्वानुमान है। इलेक्ट्रॉनिक्स विभाग (भारत सरकार) की उप-समिति द्वारा प्रस्तुत एक रिपोर्ट के अनुसार, 1985 तथा 1990 के बीच सरकारी क्षेत्र को 1 लाख 35 हज़ार सूक्ष्म-कंप्यूटरों, 4,340 लघु कंप्यूटरों, 632 मँझोले कंप्यूटरों, 139 विशाल कंप्यूटरों तथा 16 सुपर कंप्यूटरों की ज़रूरत होगी।"

—संसद में दिये गये एक उत्तर के अनुसार, 1985 के अन्त तक 101 कम्पनियों को कंप्यूटर निर्मित करने के क्रम में उद्देश्य पत्र/लाइसेंस स्वीकृत किये गये थे। इसके अलावा लघुमान (स्माल स्केल) क्षेत्र को भी स्वीकृतियाँ दी गयी थीं।

—1983 में भारत में इलेक्ट्रॉनिक्स के कुल उत्पादन का मूल्य 1360 करोड़ रु० था, जबकि 1985 में बढ़कर यह 2650 करोड़ रु० हो गया। सातवीं योजना के सन्दर्भ में, 1990 तक यह बढ़कर 10,000 करोड़ रु० प्रति वर्ष हो जाने की आशा है।

—पश्चिम से प्रौद्योगिकी की ख़रीद में दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ोतरी हुई है। 1985 में उच्च प्रौद्योगिकी स्थानांतरित किये जाने के संबंध में भारत तथा संयुक्त राज्य अमरीका के बीच एक समझौता-पत्रक पर हस्ताक्षर हुए थे। समझौता-पत्रक से पूर्व, जारी लाइसेंसों का मूल्य 50 करोड़ डालर था। मई 1985 के बाद

यह उछलकर 120 करोड़ डालर हो गया है। सुपर कंप्यूटर तथा कुछ उच्च प्रौद्योगिकी वस्तुओं (जिनमें प्रतिरक्षा साज़ो-सामान भी शामिल है) की बिक्री के संबंध में समझौते पर वार्ताएँ चल रही हैं। सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन की समितियों की बैठकों-बहसों तथा अमरीकी प्रवक्ताओं के वक्तव्यों ने बार-बार यह सिद्ध कर दिया है कि भारत को सुपर कंप्यूटर बेचने के मामले में अमरीका का रुख़ दम्भपूर्ण तथा अपमानजनक रहा है, कि वह भारत पर निष्कृट क़िस्म का कंप्यूटर चेप देने, तथा उसे किस जगह पर लगाया जाय—इसके सम्बन्ध में अपमानजनक शर्तें थोपने के प्रयास करता रहा है। फिर भी, राष्ट्रीय गरिमा के इस निरादर के बावजूद, भारत सरकार ने उसके लिए झोली फैला रखी है।

—सरकार तथा प्रशासन के उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों को जिस विवशताकारी कम्प्यूटर-उन्माद ने जकड़ लिया है उसे इलेक्ट्रॉनिक्स विभाग का यह दावा चित्रित करता है: "भारत कम्प्यूटर क्रांति की दहलीज़ पर खड़ा है।" इस विभाग ने उद्योग के रोबोटीकरण की योजना प्रस्तुत करने तक को उपयुक्त माना है तथा उसे 'उपयुक्त स्वचालन-प्रोत्साहन कार्यक्रम' का नाम दिया है। और यह सब उस देश में जहाँ बेरोज़गारी आसमान को छू रही है!

—इस बात पर भी ग़ौर किया गया है कि दुनिया भर में इलेक्ट्रॉनिक सामान का उत्पादन 1980 के 2,50,000 करोड़ रु० मूल्य से बढ़कर 1990 में 7,40,000 करोड़ रु० हो जायेगा। ये अधिकृत अनुमान हैं। इसमें से क़रीब आधा तो अधिकांशतः विकासमान देशों में ही पटक दिया जायेगा। भारत ने तो इसके निमित्त अपने दरवाज़े खुले रखकर खुला आमंत्रण दे ही रखा है।

—यह स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकी के मामले में विकासमान तथा विकसित देश अपने आपको अलग-अलग स्तरों पर पाते हैं। जो विकासमान देशों की नज़र में नयी प्रौद्योगिकी है, वह विकसित देशों के लिए पहले से मौजूद तथा परिचित प्रौद्योगिकी है। दरअसल, यह भी सम्भव है कि वे बहुत आगे निकल गये हों तथा सम्बन्धित प्रौद्योगिकियाँ उनकी दृष्टि से पुरानी भी पड़ गयी हों। इसी से हमारे सामने जो प्रश्न खड़ा होता है वह विकसित देशों से विकासमान देशों में 'प्रौद्योगिकी हस्तांतरण' से सम्बन्ध रखता है। प्रौद्योगिकी के ख़रीदारों के रूप में, इन विकसित देशों को कभी-कभी युक्तिपूर्वक ऐसी स्थितियों में डाल दिया जाता है जहाँ उन्हें वह स्वीकार करना पड़ता है जो चाहे उनके आर्थिक विकास के अनुकूल न हो, पर विक्रेता जिसे बेच देना चाहता है। 'ख़रीदें या बनायें'—यह कठिन समस्या भी कभी-कभी तो प्रौद्योगिक विकास नीतियाँ तय करने वाले विकासशील देश के हाथों से खिसका लिया जाता है—यानी जिसे अपनी नीतियाँ तय करनी चाहिए, उसे यह करने नहीं दिया जाता, और जिसका इससे कोइ लेना-देना नहीं होना चाहिए, वह परोक्ष रूप से तय कर देता है।

—अपने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के लिए, अथवा अपनी विभागीय एवं रक्षा आवश्यकताओं के अनुरूप सरकारी ख़रीद के ज़रिये भी प्रौद्योगिकी हस्तांतरण घटित हो सकता है। यह सहयोग-समझौतों के चौखटे के भीतर भी घटित हो सकता है। इसके अलावा, भारतीय अर्थव्यवस्था में (जैसेकि अन्य विकासमान देशों की अर्थव्यवस्था में भी) उच्च प्रौद्योगिकी के मुख्य वाहक बहुराष्ट्रीय उद्यम हैं, जिनकी भूमिका की, अनेक कारणों से, कड़ी जाँच-पड़ताल होनी चाहिए।

—सहयोग-समझौतों के चौखटे के भीतर प्रौद्योगिकी हस्तांतरण अक्सर स्वदेशी प्रक्रियाओं तथा हमारे स्वयं के शोध एवं विकास की क़ीमत पर होता दिखाई देता है। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शोध परिषद ने अपनी 'भारत में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी सम्बन्धी स्थिति रिपोर्ट-1986' में इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा कि "जहाँ अनेक स्वदेशी प्रक्रियाएँ परती (बंजर) पड़ी हुई हैं, विदेशी सहयोगों की संख्या जो 1970 में 183 थी, बढ़कर 1981 में 389, 1983 में 678 तथा 1984 में अनुमानित तौर पर 700 हो गयी।" 1985 में यह संख्या बढ़कर 1024 हो गई है (अमरीका—197; पश्चिम जर्मनी—180; इंगलैंड—147; जापान—108; तथा सोवियत संघ—मात्र 4)। इसी रिपोर्ट में आगे कहा गया है: "इस देश में निर्मित 75 प्रतिशत से अधिक इलेक्ट्रॉनिक वस्तुएँ, 70 प्रतिशत से अधिक कृषि सम्बन्धी यन्त्र, 65 प्रतिशत से अधिक यातायात वाहन यन्त्र तथा 35 प्रतिशत दवाएँ विदेशी सहयोग के उत्पाद हैं। यही नहीं, 80 प्रतिशत विदेशी सहयोगों का नवीकरण दो से पाँच बार, तथा 20 प्रतिशत का 6 अथवा अधिक बार किया जा चुका है।" स्थिति-रिपोर्ट कहती है कि "यह स्वदेशी स्तर पर विकसित औद्योगिकी का उपयोग करने में उद्योग की शिथिलता का प्रतिबिंबन अधिक है।"

यदि प्रौद्योगिकी-आयात को, आवश्यकताओं व अनुभव के आधार पर, स्वदेशी प्रौद्योगिकियों के अनुकूलन, समेकन तथा सृजन के लिए, शोध एवं विकास द्वारा आगे नहीं बढ़ाया जाता तो, नतीजा पश्चिम पर 'प्रौद्योगिक निर्भरता' ही हो सकता है।

—जो ज़्यादा चिंता की बात है वह यह कि **साम्राज्यवादी देशों से प्रौद्योगिकी हस्तांतरण अनेक शर्तों के अधीन होता है**। अन्य देशों (जिनमें इंगलैंड भी शामिल है) का अनुभव यह बताता है कि अमरीकी सुपर कम्प्यूटरों के उपयोग के साथ ऐसी शर्तें (प्रतिबंध) लगी होती हैं जो राष्ट्रीय संप्रभुता के लिए अपमानजनक होती हैं। हमें अब यह भारत के सन्दर्भ में ही घटित होता दिखाई दे रहा है। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया का विश्लेषण यह दिखाता है कि पश्चिम द्वारा अनेक विकासमान देशों को की जाने वाली प्रौद्योगिकी-बिक्री में अनेक निर्यात-प्रतिबन्ध व्याप्त हैं। भारत में, पश्चिमी कम्पनियों के साथ भारतीय साझेदारों द्वारा हस्ताक्षरित 1285

समझौतों में से 956 ऐसे थे जिनमें ख़रीदी गयी प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके बनायी गयी वस्तुओं के निर्यात पर रोक लगी हुई थी। जिसे आजकल 'प्रौद्योगिक साम्राज्यवाद'[1] के रूप में जाना जाता है, ये दरअसल उसके मात्र कुछ ही पहलू हैं।

सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न तो दरअसल यह है कि नयी प्रौद्योगिकी का रोज़गार की स्थिति, चाहे किसी ख़ास उद्योग में अथवा समूचे देश पर, क्या असर पड़ता है। भारत में, रोज़गार दफ़्तरों में पंजीकृत काम पाने के आकाँक्षियों की संख्या अब तक 3 करोड़ को भी पार कर गयी है। इसमें यदि हम देहाती बेरोज़गारों की संख्या को भी जोड़ दें तो कुल योग साढ़े 7 करोड़ को पार कर जायेगा। इसके अलावा 'बंदी' तथा 'छँटनी' की घटनाएँ भी हैं जो स्थिति को और अधिक विषम बनाकर, संकट को गहरा देती हैं। एक ऐसे देश में जहाँ बेरोज़गारी इतने भयावह आयाम

---

1. पश्चिम से प्रौद्योगिक हस्तांतरण तथा सहयोग-समझौतों की दौड़ के साथ ही यह प्रचार अभियान भी चलता रहता है कि सोवियत प्रौद्योगिकी पुरानी पड़ गयी है, कि यह घटिया तथा अनुपयुक्त है, कि उत्पादक शक्तियों तथा सामाजिक जीवन के साथ अपनी प्रयोजनशीलता में सोवियत प्रौद्योगिकी पिछड़ रही है। इस प्रचार की असत्यता को ये उदाहरण बेनक़ाब कर देते हैं जैसे, सोवियत अंतरिक्ष विज्ञान की सतत प्रगति (जो **एनर्जिया** नामक बहु-उद्देश्यीय बूस्टर रॉकेट छोड़ने के परीक्षण से ही स्पष्ट हो जाती है), लेज़र प्रौद्योगिकी के उपयोग, अति-परिशुद्धता घड़ी (जिसमें एक करोड़ वर्ष में एक सैकंड से अधिक की भूल नहीं होगी तथा जिसकी ऐतिहासिक परिशुद्धता तथा स्थायित्व से मानव कल्पना तक दंग रह जाती है)—आदि ही उक्त प्रचार की असत्यता को सिद्ध करने के लिए काफ़ी हैं।

16 अप्रैल, 1987 को युवा कम्युनिस्ट लीग की 20वीं कांग्रेस को संबोधित करते हुए मिख़ाइल गोर्बाचेव ने सोवियत संघ में पूरे पैमाने पर ऐसे सुपर कंप्यूटरों के उत्पादन की शुरुआत हो चुकने की घोषणा की जोकि एक सैकंड में 12 करोड़ 50 लाख क्रियाएँ संपन्न करते हैं। बहुत जल्दी ही वे एक ऐसा कंप्यूटर बना लेंगे जो प्रति सैकंड 1 अरब क्रियाएँ संपन्न करेंगे, तथा उसके कुछ समय बाद प्रति सैकंड 10 अरब क्रियाएँ करने वाला कंप्यूटर भी बन जायेगा। सोवियत वैज्ञानिक 'कला की अवस्था' सुपर मिनी कंप्यूटर पर भी काम कर रहे हैं तथा उन्हें अच्छे परिणाम प्राप्त हो रहे हैं। उन्होंने आत्म-विश्वास के साथ यह घोषण की कि "पश्चिम में कुछ लोग प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में, ख़ासकर सुपर कंप्यूटरों के क्षेत्र में, रूस के पिछड़ जाने पर भरोसा किये बैठे हैं। उन्हें इस मंच से इस सूचना को सुनना व इस पर ग़ौर करना चाहिए।"

प्राप्त कर चुकी है, मज़दूरों को और अधिक विस्थापित करने वाली तथा रोज़गार-सामर्थ्य को घटाने वाली प्रौद्योगिकी महाविपत्ति की सूचक बन सकती है। यही वह बात थी जो जॉन कैनेथ गालब्रेथ जैसे सुविख्यात पूँजीवादी-उदारवादी अर्थ-शास्त्री के उस समय ध्यान में थी जब वह अपनी पुस्तक 'आर्थिक विकास' लिख रहे थे :

"अधिक उन्नत देशों की इस प्रौद्योगिकी का अधिकांश मज़दूरों की कमी से मेल बिठाने का प्रतिनिधित्व करता है अथवा अधिक उन्नत अर्थव्यवस्था की अन्य सामाजिक अपेक्षाओं को प्रतिबिंबित करता है···उन देशों को इस प्रौद्योगिकी को नहीं अपनाना चाहिए जो अभी भी विकास की पूर्ववर्ती अवस्थाओं में हैं। ऐसा करने का मतलब है दुर्लभ संसाधनों का अपव्यय करना तथा विकास में अड़चन डालना, और सुविचारित रूप से बेरोज़गारी में बढ़ोतरी करना।"

—नयी प्रौद्योगिकी का रोज़गार-स्थिति पर असर केवल इस रूप में ही नहीं पड़ता कि जहाँ इसको संस्थापित किया जाता है वहाँ काम कर रहे श्रम-बल में सीधी कटौती हो जाती है, बल्कि इस रूप में भी होता है आसमान छूती बेरोज़गारी की हालत में भी रोज़गार संभावनाओं पर आघात होता है। रोज़गार प्राप्त लोगों के काम की सुरक्षा पर ख़तरा मँडराने लगता है जबकि नयी प्रविष्टियों के लिए सभी द्वार बंद हो जाते हैं, और इस प्रकार बेरोज़गारों की आरक्षी फ़ौज की संख्या में और अधिक बढ़ोतरी हो जाती है।

—यही नहीं, भारत जैसे देश में, पारंपरिक उद्योगों का अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। ये दसियों लाख लोगों के लिए काम तथा रोटी-रोज़ी उपलब्ध कराते हैं। संगठित क्षेत्र के किन्हीं चुने हुए क्षेत्रों में (तथा कुछ पारंपरिक क्षेत्रों में भी) उच्च प्रौद्योगिकी का प्रवेश लाखों लोगों को उनकी कसाले की कमाई से वंचित करके हमारे देश की बहु-संरचनात्मक अर्थव्यवस्था के पारंपरिक संतुलन को बिगाड़ सकता है। हमारी अर्थव्यवस्था का विस्तार आधुनिक पूँजी-सघन उद्योगों से लेकर श्रम-सघन (प्राक्-पूँजीवादी तथा पारंपरिक धंधों समेत जोकि हमारे विकास के मौजूदा स्तर पर सामाजिक ज़रूरत को पूरा करते हैं) उद्योगों तक है। सवाल यह उठता है : क्या श्रम-बचाने वाली सूक्ष्म प्रौद्योगिकियों के प्रवेश (अधि-ष्ठापन) को पारंपरिक क्षेत्र को नष्ट करने की श्रम के व्यापक विस्थापन की स्थिति पैदा करने की अनुमति दी जानी चाहिए ?

—नयी प्रौद्योगिकी के कई समर्थक इस सत्य से इनकार करके ही अपनी बात शुरू करते हैं तथा ज़ोर देकर यह कहने की हद तक चले जाते हैं कि तेज़ी से होने वाले विकास के साथ नये कामों का सृजन भी होता है। कुल मिलाकर जो होता है वह यह कि श्रम-बल के काम की रूपरेखा (पार्श्वचित्र) में तब्दीली आती है तथा मज़दूर वर्ग के घटन में भी कुछ संरचनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं। क्या यह पूँजी-

वादी देशों के संबंध में सच है? और इससे भी अधिक, भारत जैसे पूंजीवादी रास्ते पर चल रहे विकासमान देशों के संबंध में सच है? हम इसका परीक्षण करना चाहेंगे।

—अमरीका के सबसे बड़े पूंजीवादी हलक़े प्रायः इस सच को छिपाने की ज़रूरत अनुभव नहीं करते। वे तो नज़रें मिलाकर भी बोल सकने में समर्थ हैं। आई० बी० एम० निगम—दुनिया के सबसे बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों में एक—के अध्यक्ष यूँ बोले: "हमें इस मुद्दे पर टालमटोल करने अथवा दब्बू होने की क़तई ज़रूरत नहीं है। हमें स्वचालन के सबसे बड़े संभावित लाभ—मज़दूरों के उन्मूलन—को छिपाना नहीं चाहिए।"

मैसाचुसैट प्रौद्योगिकी संस्थान के अनुसार, स्वचालन 1980-83 के दौरान अमरीका में 20 लाख नौकरियों को 'निगल गया'। यूनाइटेड आटो (अमरीका) के मज़दूरों ने यह भविष्यवाणी की है कि 1990 तक रोबोट पुरजे जोड़ने के काम से जुड़ी आधी नौकरियों को ख़त्म कर देंगे।

टाइम्स ऑफ़ इंडिया ने अपने 6 जनवरी, 1986 के अंक में यह रिपोर्ट प्रकाशित की:

"इस पुरानी धारणा को कि स्वचालन मज़दूरों को विस्थापित नहीं करती, अब विशेषज्ञ तक तिलांजलि दे रहे हैं। मिशिगन विश्वविद्यालय द्वारा किये गये एक अध्ययन में यह भविष्यवाणी की गयी है कि 1990 तक रोबोट 2 लाख मज़दूरों को विस्थापित कर देंगे, जबकि रोबोटों के निर्माण का कार्य 44,500 नौकरियाँ ही सृजित करेगा।"

संयुक्त राज्य अमरीका की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव गस हाल ने, अक्तूबर 1986 में अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक अधिवेशन में बोलते हुए, यह टिप्पणी की:

"अमरीका में आज 2 करोड़ बेरोज़गार हैं। स्थायी बेरोज़गारों के अलावा कुल श्रम-बल का 25 प्रतिशत प्रति आज 'बुलावे पर' है—यानी ज़रूरत होने पर कुछ दिन के लिए, और वह भी निम्नतम मज़दूरी पर, बुला लिया जाता है। यह नयी तथा विकासमान प्रवृत्ति है। इन 'बुलावे पर' मज़दूरों को कोई बेरोज़गारी लाभ नहीं मिलते: स्वास्थ्य-बीमा, सामाजिक सुरक्षा, पेंशन, जीवन बीमा, अवकाश-वेतन, चिकित्सा अवकाश, पूरे-समय काम की संभावनाएँ—इनमें से कुछ भी तो नहीं!

"रोबोटों तथा स्वचालन के कारण भी मज़दूरों का विस्थापन हो रहा है। तथा स्वचालित उपकरण बनाने वाले उद्योगों अथवा उच्च प्रौद्योगिकी उद्योगों में इतना विकास हो नहीं रहा कि नये तरीक़ों द्वारा विस्थापित मज़दूरों के एक अति सूक्ष्म भाग को भी रोज़गार दे पायें।

"विस्थापित लाखों का वह छोटा-सा हिस्सा जो सेवा तथा संचार उद्योग में काम पा जाता है, उसे भी क़ानूनी न्यूनतम मज़दूरी से कम (यानी क़रीब 60 प्रतिशत कम) का भुगतान किया जाता है। यह समूह उन 3 करोड़ 50 लाख अमरीकियों का अंग है जो अधिकृत ग़रीबी रेखा के नीचे जीवन बिताते हैं। जिसे ग़रीबी की अधोगति कहा जाता है, यह उसका सजीव चित्रण है।"

—विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की पहलक़दमी पर, सितंबर 1985 में नयी प्रौद्योगिकियों पर बुडापेस्ट में आयोजित **गोलमेज़**[1] ने अपनी रिपोर्ट में टिप्पणी की: "वेतनभोगी कर्मचारियों की कुछ श्रेणियों को (और फिर भी आमतौर से सीमित अवधि के लिए) छोड़ भी दें तो, आज औद्योगिकीकृत पूँजीवादी देशों में जारी प्रौद्योगिक आधुनिकीकरण रोज़गार में गिरावट, बेरोज़गारी में वृद्धि, वास्तविक मज़दूरी में गिरावट, काम की गति की सघनता, मज़दूरों के अधिकारों पर प्रतिबंधों, अधिक ट्रेड यूनियन दमन तथा मज़दूरों को दबाने के उद्देश्य से उन पर दोष मढ़ने के लिए चलाये जाने वाले प्रचंड अभियानों का पर्यायवाची बन गया है।"

उसमें आगे कहा गया :

"उत्पादन की पूँजीवादी पुनर्संरचना—जिसे नयी प्रौद्योगिकियों ने संभव बना दिया—सदा तथा सब जगह पहले पहल रोज़गार को ही प्रभावित करती है : काम के पदों का उन्मूलन, उत्पादन इकाइयों का बंद किया जाना, सेवामुक्त मज़दूरों का पुनर्स्थापन नहीं, नया चयन नहीं। हाल के वर्षों में समस्त औद्योगिकीकृत पूँजीवादी देशों में देखी गयी बेरोज़गारी वृद्धि में इसका भी महत्वपूर्ण योगदान है।"

—जापान एक 'माडल' देश है—नयी प्रौद्योगिकी के प्रवर्तक के रूप में तथा उसे बड़े पैमाने पर क्रियान्वित करने वाले देश के रूप में भी। इसलिए जापान का अनुभव ग़ौर किये जाने लायक़ है। अपने अनुभव के आधार पर बोलते हुए, इस गोलमेज़ में जापानी प्रतिनिधि[2] ने नयी प्रौद्योगिकियों के प्रवर्तन के कई अन्य परिणामों की रूपरेखा भी प्रस्तुत की। उन्होंने यह उल्लेख किया कि जापान में (जैसे कि अन्य औद्योगिकीकृत देशों में भी) सूक्ष्म-इलेक्ट्रॉनिकी का विकास मज़दूरों के उल्लेखनीय ध्रुवीकरण को जन्म देता है। मोटे तौर पर, औज़ार बनाने, मशीनों को ठीक करने (तथा व्यवस्थित करने) तथा संसाधन के नियंत्रण जैसे पारंपरिक कुशल काम अब पूरी तरह मशीन द्वारा संपन्न किये जाते हैं—प्रचालक केवल

---

1. बुडापेस्ट गोलमेज़ तथा दिल्ली संगोष्ठी के बारे में अधिक जानकारी के लिए देखें 'सूचना सामग्री' एटक का 33वाँ अधिवेशन, पृ० 84-94
2. तकेशी कावाशिमा, उपाध्यक्ष, नागरिक एवं सार्वजनिक सेवा मज़दूर राष्ट्रीय महासंघ (इस संघ का जापानी में संक्षिप्त नाम कोक्कोरोरेन है)।

बटनों को दबाता है। इस तरह के विकासक्रम के कारण हमें एक ओर तो मुट्ठी भर ऐसे अति कुशल मज़दूर मिलते हैं (जो मशीनों को त्रुटिहीन बनाने, उनमें योजनाएँ भरने, तथा कुछ विशिष्ट मामलों में निर्णय करने तक में संलग्न होते हैं), तो दूसरी ओर, निरंतर बढ़ती हुई संख्या में अकुशल मज़दूर अथवा ऐसे मज़दूर मिलते हैं जिन्होंने अत्यंत संकुचित विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर रखी है, जिनका एकमात्र काम मशीन की निगरानी करना होता है। मज़दूरों के इस ध्रुवीकरण (जो नयी प्रौद्योगिकियों का परिणाम है) का इस्तेमाल मालिकों द्वारा मज़दूरों की एकजुटता को तोड़ने के लिए किया जाता है। मज़दूरों के ध्रुवीकरण के साथ-साथ ही हम अंशकालीन काम तथा घर पर काम (कम भुगतान तथा कोई अधिकार नहीं) के विस्तार के भी साक्षी हैं। बड़े उद्यमों ने यह एकदम स्पष्ट कर दिया है कि वे बड़े पैमाने पर अंशकालीन काम तथा अस्थायी ठेकों पर ज़ोर देकर काया-पलट करने का इरादा रखते हैं ताकि बर्खास्तगियों को टाला जा सके जोकि इसलिए महँगी पड़ती हैं कि उन्हें मज़दूरों को बेरोज़गारी-लाभ देने पड़ते हैं। अंश-कालीन काम की शरण लेने वाले उद्यमों की संख्या 1979 में 25.7 प्रतिशत से बढ़कर 1983 में 73.5 प्रतिशत हो गयी है। ऐसा क़ानूनी प्रावधान भी किया जा रहा है कि एक उद्यम से दूसरे उद्यम को मज़दूरों को लीज़ पर उधार दिया जा सके।[1]

—दिसंबर, 1985 में एशिया-प्रशांत क्षेत्र के राजकीय/सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों की ट्रेड यूनियनों की नयी दिल्ली संगोष्ठी भी इसी तरह के निष्कर्षों पर पहुँची। इसने विकासमान देशों में आधुनिक प्रौद्योगिकी के अविवेकी प्रवर्तन के खासकर नकारात्मक परिणामों पर बल दिया। इसने यह दिखाया कि बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी, वर्षों के दौरान अर्जित निपुणताओं तथा कार्य-अनुभव के लोप जैसे प्रत्यक्ष विपरीत सामाजिक परिणामों को झेलने के अलावा, विकासमान देशों को घाटे तथा मुद्रा-स्फीति-वित्तीय उपायों का सहारा लेना पड़ेगा ताकि विदेशों से नयी प्रौद्योगिकी आयातित करने के लिए ज़रूरी अति विशाल निवेशों के अनुरूप संसाधन उत्पन्न किये जा सकें। इसका अवश्यंभावी परिणाम यह होगा कि इस क्षेत्र के देशों में क़ीमतें बेतहाशा बढ़ जायेंगी जो न केवल मज़दूरों पर बल्कि समूचे समुदाय (समाज) पर विपरीत प्रभाव डालेंगी।

—रोबोटों तथा कंप्यूटरों का प्रवर्तन करने के प्रश्न पर मालिकों को कुछ अन्य बातें भी लुभाती हैं। वे यांत्रिक 'भाड़े के टट्टू' कभी शिकायत नहीं करते,

---

1. यहाँ वर्णित तथ्य जापान में मालिक-नौकर के काव्यात्मक (रमणीय), पितृात्मक आजीवन संबंधों के चित्र—हमारे पूंजीवादी प्रचारक जिसका गुणगान करने का कोई मौक़ा नहीं चूकते—को ध्वस्त कर देते हैं।

हड़ताल नहीं करते और न अधिक मज़दूरी की माँग ही करते हैं। जनरल मोटर्स के मालिकों में से एक ने यूनाइटेड ऑटो मज़दूरों के नेता वाल्टर रयूथर से कहा कि रोबोटों को यूनियन कार्डों (सदस्यता) की ज़रूरत नहीं पड़ती, जिस पर रयूथर ने उत्तर में कहा कि कारें भी तो नहीं ख़रीदते।[2] वे उत्पादकता को तो बढ़ा देते हैं, पर बिक्री को अधिक कठिन बना देते हैं, और इस प्रकार पूँजीवाद के एक आधारभूत अंतर्विरोध को उद्घाटित कर देते हैं।

—और समाजवादी देशों में स्थिति कैसी है, जहाँ वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति का सर्वग्राही कार्यक्रम राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के इलेक्ट्रॉनिकरण, व्यापक स्व-चालन, आणविक बिजली इंजीनियरी, नयी क़िस्म की सामग्रियों के विकास व उन पर अधिकार, तथा प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास के आधार पर तैयार किया गया है?

—समाजवादी देशों ने पूर्ण रोज़गार के कार्यक्रम को पूरी तरह लागू कर दिया है। उन्होंने बेरोज़गारी का ख़ात्मा कर दिया है। काम के अधिकार को उनके संविधान में प्रतिष्ठा प्राप्त है। आधुनिक प्रौद्योगिकी नौकरियों को बेशक काफ़ी कम कर देती है, ख़ासकर सामग्री उत्पादन के क्षेत्र में। लेकिन फिर भी कोई भी व्यक्ति बेरोज़गार नहीं होगा। उन्हें सेवा में बनाये रखा जायेगा तथा अन्य क्षेत्रों में—जैसे सेवा क्षेत्र में अथवा वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति के क्रम में पैदा होने वाले अन्य अद्यमों में—कोई और रोज़गार दिया जायेगा। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में आमूल परिवर्तनवादी पुनर्संरचना तथा पुनर्संगठन का जो काम हाथ में लिया गया है, यह उसका अनिवार्य अंग होगा। यह दावा सही ही किया गया है:

"पूँजीवाद के अन्तर्गत जो हालात हैं उसके स्पष्टतया भिन्न, समाजवादी परिस्थितियों में अत्यन्त उत्पादक यंत्रों एवं प्रौद्योगिकी नयी पीढ़ियों में बड़े पैमाने पर संक्रमण को मूर्तरूप देने के साथ मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण, प्रतिस्पर्द्धा, बेरोज़गारी, व्यावसायिक पदावनति, मेहनतकशों का भौतिक निजीकरण, सामाजिक एवं जातीय असमानताएं—ये सब जुड़े हुए नहीं हैं।"

—इस प्रकार हम देखते हैं कि वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति के तमाम फ़ायदों का पूरी तरह दोहन समाजवादी व्यवस्था में ही किया जा सकता है जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था (जिसके अन्तर्गत जहाँ विश्व अर्थव्यवस्था की पोट बनाकर कुछ बहुराष्ट्रीय निगमों को अर्पित कर दी जाती हैं तथा जहाँ प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल पूँजीपतियों के अधिक मुनाफ़ों के लिए किया जाता है) के विपरीत उनका उपयोग सभी के भले के लिए किया जा सकता है।

---

1. 'एशिया प्रौद्योगिक साम्राज्यवाद': एस० पाव्लोव, पृ० 41

—फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी के दैनिक अख़बार **ल' ह्यूमेनिते** (मानवता) द्वारा 8 फ़रवरी, 1986 को सोवियत नेता मिख़ाइल गोर्बाचेव से एक सवाल पूछा गया : "क्या बेरोज़गारी उत्पादन आधुनिकीकरण की अपरिहार्य (अवश्यंभावी) क़ीमत है ?" इसके उत्तर में गोर्बाचेव ने कहा :

"योजना-आधारित अर्थव्यवस्था में, जोकि सामाजिक आवश्यकताओं को यथासंभव पूर्णतया पूरा करने के अनुकूल बना ली गयी है, यह संबंध नहीं होता। यदि कुछ मूलभूत प्रौद्योगिक सुधार किन्हीं व्यवसायों को पूरी तरह अनावश्यक भी बना देते हैं, तो हम न केवल इसका पूर्वानुमान कर सकते हैं (और हमें जो करना भी चाहिए) बल्कि मज़दूरों को बनाये रखने के उपाय भी कर सकते हैं, तथा ज़रूरत पड़ने पर नयी उत्पादन इकाइयाँ भी क़ायम कर सकते हैं। और दरअसल, यही वह सब कुछ है जो हम व्यवहार में करते भी हैं। संयोग से, चूँकि उद्यमों की पुनर्संरचना के साथ आम तौर पर उनका विस्तार भी होता है, नये कामों (नौकरियों) का मुद्दा इन्हीं उद्यमों के भीतर हल हो जाता है। पर यह प्रश्न अभी तक हमारे लिए मात्र एक अकादमिक प्रश्न है। मुख्य रूप से इसलिए कि हमारे सामने जनशक्ति की बहुतायत की नहीं बल्कि उसकी कमी की समस्या है..."

—और इस सबके बाद भी अनुपात गड़बड़ा जाये—यानी मज़दूरों की संख्या अर्थव्यवस्था की कुल माँग से अधिक हो जाये तो ? उस स्थिति में इसका अर्थ होगा काम के कम घंटे, तथा अधिक विश्राम (फ़ुर्सत) जोकि मनुष्य एवं समाज के चहुँमुखी विकास की परिस्थितियाँ उपलब्ध करायेंगे। समाजवादी देशों में नयी प्रौद्योगिकी के प्रवर्तन से उत्पन्न होने वाली संक्रमणकालीन समस्याओं का निराकरण बिना किसी कष्ट के—यानी गारंटीशुदा पूर्ण रोज़गार, जहाँ भी ज़रूरी हो राज्य के खर्चे पर बनाये रख जाने के बाद, पुनः रोज़गार तथा प्रक्रिया के प्रत्येक क़दम पर ट्रेड यूनियनों की भागीदारी व नियंत्रण पर आधारित किया जा रहा है।

—समाजवादी व्यवस्था फ़ालतूपन, काम की असुरक्षा, व्यावसायिक पदावनति तथा अन्य बुराइयों को, जोकि वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति के संग आती हैं, जन्म नहीं देती। पूँजीवादी देशों में आधुनिक प्रौद्योगिकी जटिल समस्याओं की शृंखला को जन्म दे रही है। इसलिए यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि इस पर गर्मागर्म बहस जारी है। अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अमरीकी पत्रिका **न्यूज़ वीक** के जनवरी 1985 के अंक में कहा गया :

"स्वचालन इस युग की सर्वाधिक विवादास्पद आर्थिक अवधारणा का रूप धारण करता जा रहा है। व्यापारीगण इसे प्यार करते हैं। मज़दूर इससे डरते हैं। सरकार खीजती है, पड़ताल करती है और असमंजस में पड़ जाती है कि इसके

बारे में क्या करे।''

—यह उस देश के बारे में कहा गया जो औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक विकसित देश है और जिसने प्रसंगवश इसीलिए इसके चहुँमुखी प्रभावों के अध्ययन के लिए आयोग नियुक्त कर दिये। बहरहाल, भारत जैसे विकासमान देश (जो अनेकानेक सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं से घिरा है तथा जिनमें से अधिकांश का आकार चौंकाने-परेशान करने वाला है) की नयी सरकार, 'खीजने' व 'पड़ताल' करने तक की ज़रूरत अनुभव नहीं करती। वह 'इसके बारे में क्या करें' को लेकर असमंजस में तो क़तई नहीं है क्योंकि उसे पक्का पता है कि उसे क्या करना है। आधुनिकीकरण, स्वचालन अथवा कंप्यूटरीकरण भारत को विकसित पश्चिम के बराबर ला खड़ा कर देने के साधन के रूप में प्रस्तावित किया जाता है। इसे 21वीं शताब्दी में प्रवेश का राजमार्ग घोषित किया जाता है।

—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उच्च प्रौद्योगिकी का प्रभाव तटस्थ नहीं होता। यह देश में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था से, तथा हर देश के भीतर विकास की अवस्था से ख़ास तौर से जुड़ा होता है। समाजवादी तथा पूँजीवादी देशों में, विकसित तथा विकासमान देशों में इसके परिणाम भिन्न होते हैं।

हम ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ताओं को इसलिए इस प्रश्न पर प्रबुद्ध रुख अपनाना चाहिए—यानी देश के हितों तथा भारतीय मज़दूर वर्ग के हितों को ध्यान में रखकर।

पाठ : 26

भारतीय ट्रेड यूनियनें और नयी प्रौद्योगिकी

—अब हम इस प्रश्न तक आ पहुँचे हैं : क्या वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति की उपलब्धियाँ वरदान हैं अथवा अभिशाप हैं ? भारत की विकास-रणनीति के संदर्भ में क्या हमें प्रौद्योगिकी मात्र को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर देते वक़्त हम सदा इस बात को ध्यान में रखते हैं कि मज़दूर वर्ग के हित देश के हितों से भिन्न नहीं होते। लेनिन ने इसी बात को रेखांकित किया जब उन्होंने यह कहा कि "सामाजिक विकास के हित सर्वहारा वर्ग के हितों से ऊँचे होते हैं।"[1]

—आधुनिक प्रौद्योगिकी का विकास इतिहास की ऐसी प्रक्रिया है जिसे पलटा नहीं जा सकता। यही नहीं, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की उपलब्धियों का संबंध सार्विक प्रयोग से है। उत्पादन के अन्तर्राष्ट्रीयकरण की परिस्थितियों में, कोई भी न तो अपने आपको उसके प्रभाव से पूरी तरह बचाके रख सकता है, और न सम्पूर्णत: उसका विरोध ही कर सकता है।

—भारत दुनिया के विकासमान देशों के बीच अपेक्षाकृत रूप से विकसित है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उसके सामने पिछड़ेपन तथा अल्प विकास की उपनिवेशीय विरासत पर क़ाबू पाने के अति विशाल कार्यभार मुँहबाये (चुनौती बनकर, खड़ा था। तब भारत विशाल जनसंख्या वाला देश होने के साथ-साथ विपुल तथा काम में न लाये गये संसाधनों से सम्पन्न देश था। आज़ादी के ज़माने से अपनाये गये विकास-क्रम ने आर्थिक उन्नति को जन्म दिया है, पुराने-पड़े भूमि-सम्बन्धों को संशोधित (दुरुस्त) किया है, शक्तिशाली तथा विविध शाखाओं

---

1. लेनिन, संकलित रचनाएँ, खंड 4, पृ० 236

पढ़ें—अर्जुन सेनगुप्ता समिति रिपोर्ट। सीटू ने सम्पूर्ण रिपोर्ट को प्रकाशित किया है। एटक के 33वें अधिवेशन की सूचना सामग्री में उसका अति विस्तृत सारांश प्रस्तुत किया गया है।

वाले सार्वजनिक क्षेत्र को निर्मित किया है (भारी उद्योग जिसके केंद्रक हैं) तथा आत्म-निर्भर अर्थव्यवस्था की आधारशिला निर्मित की है। अर्थव्यवस्था विविधता-पूर्ण बन गयी है। किन्तु पूंजीवादी रास्ते पर चलने के कारण विषमताएँ बढ़ गयी हैं तथा सामाजिक ध्रुवीकरण हो गया है।

—जनसंख्या की सबसे ऊपर की परत (संस्तर)—5 से 7 प्रतिशत तक—ही ऊँचे दरजे की समृद्धि हासिल कर पायी है, जबकि विशाल मेहनतकशों की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ विस्मयकारी (चौंका देने वाली) हैं। अनुमान है कि 30 करोड़ लोग (जिनमें से 25 करोड़ देहाती इलाक़ों में रहते हैं) 'ग़रीबी रेखा' के नीचे गुज़र-बसर करते हैं।

—2 लाख से अधिक गाँव ऐसे हैं जिनकी अभी भी शुद्ध पीने के पानी तक कोई पहुँच नहीं है। मल व्यवस्था के ज़रिये सफ़ाई व्यवस्था (स्वास्थ्य-रक्षा) का बन्दोबस्त शहरी इलाक़ों में 30 प्रतिशत से कम, तथा देहात में 1 प्रतिशत से भी नीचे है।

—मकानों की कमी को देखें, तो संयत माने जाने वाले अनुमान 3 करोड़ इकाइयों की कमी की सूचना देते हैं।

—जनसंख्या का मात्र 36 प्रतिशत भाग साक्षर है, तथा 2000 ई० तक भारत में निरक्षरों की संख्या समूची दुनिया के निरक्षरों की आधी से अधिक हो जाने की उम्मीद है।

—1981 में भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की संख्या 5 करोड़ 50 लाख थी। कंगाल बना दिये गये किसानों के बीच से प्रतिवर्ष 10 लाख लोग इनमें आ मिलते हैं। इस संख्या को भी जोड़ा जाना चाहिए।

—**सूखा एवं बाढ़**—कभी एक साथ, और कभी अलग-अलग, निरंतर बढ़ती सघनता से अधिकाधिक बड़े क्षेत्रों को चौपट कर जाते हैं।

—आयात को उदार बना दिये जाने के कारण विदेश व्यापार खाते में घाटा 1985-86 में 7,951 करोड़ रुपया रहा है। जहाँ तक विदेशी कर्ज़ का संबंध है, कर्ज़-दुरुस्ती का बोझ, मौजूदा दरों पर हमारी निर्यात-आय का क़रीब 15 प्रतिशत है तथा कुछ सालों में ही, अब अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कर्ज़ की अदायगी शुरू हो जायेगी, इसके 20 प्रतिशत तक पहुँच जाने की उम्मीद है।

—जहाँ यह सच है कि सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि-दर औसत वार्षिक मिश्रित दर पर 3.5 प्रतिशत रही है, सक्रिय ट्रेड यूनियन कार्यकर्त्ताओं को भारतीय अर्थव्यवस्था के बारे में ऊपर वर्णित कुछ तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। इनके अलावा, भारतीय स्थिति के निम्नलिखित प्रासंगिक तथा विशिष्ट लक्षणों पर भी नज़र डालनी होगी :

1. बेरोज़गारों की पहले से ही विशाल तथा निरंतर बढ़ती संख्या मौजूद है—रोज़गार दफ़्तरों के रजिस्टरों में पंजीकृत काम पाने की इच्छुक व्यक्तियों की संख्या 3 करोड़ है तथा अनुमानित तौर पर इस संख्या की चार गुनी संख्या उन लोगों की है जो (बेरोज़गार तो हैं पर) पंजीकृत नहीं हैं। पंजीकृत काम-चाहने वालों में आधे शिक्षित हैं (मैट्रिक से ऊपर); इनमें से कुछ इंजीनियर, डॉक्टर तथा प्रविधिज्ञ हैं।[1] भारत जैसे देश के मानव संसाधनों का पहले ही इतना कम उपयोग किया गया है।
2. दिसंबर 1985 के अन्त में, देश में 1 लाख 19 हज़ार 510 'रुग्ण' औद्योगिक इकाइयाँ थीं, जिनमें एक तरह से बैंक कोषों के 4263 करोड़ 25 लाख रुपये फँसे पड़े थे। तब से लेकर ऐसी इकाइयों की संख्या निरन्तर बढ़ ही

---

1. भारतीय प्रतिभा—इंजीनियरों, डॉक्टरों, वैज्ञानिकों आदि—का विकसित पश्चिम—अमरीका, इंगलैंड, कनाडा तथा अन्य देशों—की ओर पलायन सुपरिचित घटनाक्रिया है। संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन (अंकटाड) तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों ने तीसरी दुनिया से विकसित देशों में इस 'प्रतिभा-पलायन' की ओर बार-बार ध्यान खींचा है। तीसरी दुनिया द्वारा विकसित पश्चिम को इस प्रकार किया जाने वाला वार्षिक योगदान कुल मिलाकर जिस संख्या का रूप धारण कर लेता है वह अचम्भे में डाल देने वाली है। इस लिहाज़ से भारत सबसे बड़ा 'सहयोगी' है। यह हिसाब लगाया गया है कि प्रतिवर्ष क़रीब 1500 डॉक्टर एवं सर्जन देश छोड़कर चले जाते है। देश एक डॉक्टर को प्रशिक्षित करने पर क़रीब 3.5 लाख रुपये ख़र्च करता है। इंजीनियरों में से क़रीब 6 प्रतिशत (आई० आई० टी० के स्नातकों में से तो क़रीब 25 प्रतिशत) पश्चिम में जा बसने के लिए देश छोड़ देते हैं। ज़ाहिर है कि ये हमारी सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा होते हैं। सरकार हमारे प्रौद्योगिकी संस्थान के स्नातकों पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपये प्रति विद्यार्थी ख़र्च करती है। वे पश्चिम में प्रौद्योगिकी विकसित करने में सहायक होते हैं, जबकि उनकी प्रतिभाएँ हमारे देश के काम नहीं आतीं। साम्राज्यवाद द्वारा विकासमान देशों के मानव संसाधनों के शोषण का प्रत्यक्ष रूप है। हालाँकि हमारे प्रधानमंत्री राजीव गांधी की राय में इसे 'प्रतिभा-पलायन' कहना ग़लत है, बल्कि यह तो 'प्रतिभा-बैंक' में जाकर जमा हो जाने के समान है, 'जहाँ वे आगे प्रशिक्षण तथा अनुभव प्राप्त करेंगे और जब देश के पास उनकी सेवाओं का उपयोग करने के लिए उपयुक्त सुविधाएँ उपलब्ध हो जायेंगी, वे स्वदेश लौट आयेंगे।

रही है। लाखों औद्योगिक मज़दूरों तथा सफ़ेद कालर कर्मचारियों की नौकरियाँ तथा नौकरियों की सुरक्षा इकाइयों के बन्द हो जाने से, तालाबंदियों, वैज्ञानिक पुनर्गठन, काम के ठेकों तथा तथाकथित 'स्वैच्छिक' सेवानिवृत्ति योजनाओं के कारण प्रभावित हो रही हैं।

3. हमारी अर्थव्यवस्था बहु-संरचनात्मक है। इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है—आधुनिक पूँजी-सघन उद्योगों से लेकर श्रम-सघन उद्योगों तक, और प्राक्-पूँजीवादी पारंपरिक धंधों तक भी जोकि हमारे विकास के मौजूदा स्तर पर सामाजिक ज़रूरत को पूरा करते हैं। हमारी अर्थव्यवस्था में पारंपरिक उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान है, तथा वे लाखों लोगों को रोटी-रोज़ी मुहैया कराते हैं।

—हमारे जैसे विकासमान देश में—जिसके समस्त लक्षणों व समस्याओं को ऊपर इंगित कर दिया गया है—विकास की किसी भी रणनीति में रोज़गार-सृजन, प्रौद्योगिक चयन तथा आत्म-निर्भरता के अन्तःसम्बन्ध को परिभाषित करना होगा, वर्ना बहुराष्ट्रीय निगमों तथा सहयोग-समझौतों के माध्यम से उच्च प्रौद्योगिकी—खासकर आयातित प्रौद्योगिकी—की अंधाधुंध घुसपैठ वरदान सिद्ध होने के बजाय महाविपत्ति में बदल सकती है। पिछले अध्याय में हम देख ही चुके हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में उच्च प्रौद्योगिकी किस प्रकार नकारात्मक परिणामों को जन्म देकर गम्भीर समस्याएँ खड़ी कर सकती है। पूँजीवादी रास्ते पर चलने वाले किसी विकासमान देश में, जहाँ अर्थव्यवस्था कमज़ोर है तथा समस्या-ग्रस्त है, यदि प्राथमिकताओं को ध्यान में नहीं रखा जाता तो परिणाम विनाशकारी भी हो सकते हैं। ज़रूरत इस बात की है कि प्रौद्योगिकी के बारे में एक सुविचारित 'चयनात्मक' दृष्टिकोण अपनाया जाये—यानी जहाँ प्रौद्योगिकी का आयात किया जाना आवश्यक हो जाये, वहाँ उपयुक्त प्रौद्योगिकियों का सावधानी-पूर्वक चयन किया जाये, तथा इसके बाद स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें अनुकूलित किया जाये तथा सुधारा जाये, और सर्वोपरि नकारात्मक परिणामों पर क़ाबू पाने एवं उन्हें सीमित करने के लिए उपयुक्त और शीघ्र क़दम उठाये जायें। हमारी मौजूदा परिस्थितियों में हम उच्च प्रौद्योगिकी की भारी ख़ुराक़ों के माध्यम से विकास की गति को ज़बरन तेज़ किये जाने के प्रयत्नों के सामाजिक परिणामों का सामना कर पाने में असमर्थ व अक्षम सिद्ध हो सकते हैं।

—मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक ख़तरा इजारेदार समूहों के संकीर्ण मुनाफ़ाख़ोर हितों की सेवा में प्रौद्योगिकी के दुरुपयोग से लगता है। सबसे पहले जो आवश्यक है वह तो यह कि मूलभूत सामाजिक परिवर्तन-जैसे बड़े भू-स्वामित्व का तत्काल विखंडन, विशाल रोज़गार सामर्थ्य तथा घरेलू बाज़ार का सृजन, सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार तथा जनवादी करण, वित्तीय सहायता

तथा सुगठित बाज़ार यंत्र बड़े पैमाने पर सहकारिता के ज़रिये पारम्परिक क्षेत्रों को शक्तिशाली तथा सुदृढ़ बनाना आदि—किये जायें। इन परिस्थितियों में सहायक स्वदेशी प्रौद्योगिकियों के साथ-साथ ही नयी प्रौद्योगिकी हितकारी हो सकती है। इसलिए इन संरचनात्मक एवं संस्थानिक परिवर्तनों के लिए मज़दूर वर्ग के आंदोलन के समस्त जनवादी सहयोगियों के साथ संघर्ष करना ही प्राथमिक कार्यभार है

—भारत में हरित क्रांति—जिसमें मूलभूत कृषि सुधारों तक को दर-किनार करके, तथा संकर बीजों, खाद-पानी आदि की बड़ी मात्राओं का कुछ ख़ास इलाकों में ही उपयोग किया गया—का अनुभव भी यह बताता है कि इस सबसे खाद्यान्न उत्पादन में तो बढ़ोतरी हो सकती है पर साथ ही सामाजिक तथा क्षेत्रीय विषमताएँ भी और अधिक संगीन हो जाती हैं। लाभ कुछेक क्षेत्रों तथा फ़सलों तक ही सीमित रह जाते हैं। यह कृषि के प्रति विशुद्ध प्रौद्योगिक नज़रिये का ही नतीजा है।

—संपन्न अल्पमत के लिए उपयोगी संचार एवं सेवा क्षेत्रों तथा थोड़े से लोगों की ज़रूरतों को पूरा करने वाले बड़े व्यापारी वर्ग को मुनाफ़ा देने वाले किन्हीं संगठित उत्पादन क्षेत्रों में उच्च प्रौद्योगिकी पर विशाल निवेशों के किये जाने से—जबकि जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए संसाधनों को समुचित रूप में उपलब्ध नहीं कराया जाता—अभिजात अल्पमत और लोक-बहुमत के बीच का गहन अंतर्विरोध और अधिक विकट हो जाता है।

—इसलिए प्रौद्योगिकियों के प्रश्न पर ट्रेड यूनियनों को चौकस और सतर्क नज़रिया अपनाना चाहिए। वैज्ञानिक शोध, तथ्य-संसाधन, जटिल नियंत्रण प्रणालियों आदि के कंप्यूटरीकरण पर कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। हमारी ट्रेड यूनियनों को चाहिए कि एक के बाद एक क्षेत्र पर नयी प्रौद्योगिकी के प्रभावों का सटीक अध्ययन करके अपना रुख़ तथा रास्ता तय करें। पर उन विदेशी प्रौद्योगिकियों के प्रवेश का कड़ा प्रतिरोध किया जाना चाहिए जो :

—मौजूदा नौकरियों (काम) को नष्ट, तथा वैकल्पिक काम पर लगाये जाने की संभावना के बग़ैर बड़े पैमाने पर मज़दूरों को विस्थापित कर सकती है;

—देश के भीतर पहले से ही उपलब्ध हैं, अथवा हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप हमारे अपने वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों द्वारा विकसित की जा सकती हैं;

—स्वदेशी शोध एवं विकास के हितों के लिए घातक हैं; तथा

—छोटे पैमाने के अथवा घरेलू उद्योगों की बरबादी की स्थिति पैदा कर सकती हैं।

—प्रत्येक प्रस्तावित प्रौद्योगिक नव्य प्रयोग काम की सुरक्षा, रोज़गार-सामर्थ्य, 'फ़ालतू स्टाफ़' (जिन्हें आवश्यक प्रशिक्षण के बाद नये काम पर लगाया

जाना है) के विस्थापन, काम की शर्तों व परिस्थितियों, नये स्वास्थ्य-संकटों को प्रभावित करता है। प्रबन्ध मंडलों के प्रयास हमेशा अधिक ऊँची उत्पादकता एवं कुशलता, बेहतर ग्राहक सेवा आदि के नाम पर एकतरफ़ा (यानी बिना दूसरे पक्ष से विचार-विमर्श किये) तौर पर प्रौद्योगिक नव्य प्रयोगों के प्रवर्तन की दिशा में होते हैं। वे ट्रेड यूनियनों से सलाह करने की इच्छा अथवा पहलक़दमी का परिचय तक नहीं देते तथा उनके सुझावों पर ग़ौर तक नहीं करते। क्या कंप्यूटरीकरण तथा नयी प्रौद्योगिकी के मुद्दे पर ट्रेड यूनियनों को वार्ता करने से इनकार कर देना चाहिए ?

—आमतौर पर, तथा ख़ास मामलों में भी, कड़ा प्रतिरोध नयी प्रौद्योगिकी के प्रवेश को अवरुद्ध करने तथा टालने, प्रबन्धमंडल के जोश को ठंडा करने तथा उन्हें इस प्रश्न पर अधिक चयन क्षमता एवं सुस्पष्टता प्रदर्शित करने के लिए विवश करने और मज़दूरों को संघर्षों के ज़रिये प्राप्त अधिकारों एवं सुविधाओं के प्रति नरम रुख़ अपनाने को विवश करने की दृष्टि से बेहद उपयोगी हो सकता है। ऐसा प्रतिरोध, यदि वह काफ़ी मज़बूत हो तो, प्रबन्धमंडल को इस विचार को फ़ौरी तौर पर अथवा कुछ अधिक समय के लिए त्याग देने व अन्य विकल्पों पर ग़ौर करने को भी विवश कर सकता है। पर प्रतिरोध चाहे कितना भी 'उग्र व आक्रामक' क्यों न दिखे, एकदम नकारात्मक रुख़ अपनाना, अथवा उससे 'कोई सरोकार न रखना' प्रबन्धमंडलों के हितों की पूर्ति में ही सहायक होगा क्योंकि वे तो वैसे भी ट्रेड यूनियनों के साथ अपने मन से (यानी बिना दबाव के) विचार-विमर्श कब करते हैं! आरंभिक दौर में, ट्रेड यूनियनों ने 'वैज्ञानिक पुनर्गठन' का जमकर मुक़ाबला किया था। लम्बी हड़तालें व अन्य कार्रवाइयाँ की गयीं। इन लड़ाइयों ने प्रबन्धमंडलों को वार्ता शुरू करने के लिए विवश कर दिया था। इसके बाद 'पीड़ा रहित वैज्ञानिक पुनर्गठन' के रूप में जो कुछ हुआ उसने ट्रेड यूनियन आंदोलन को न केवल सुरक्षित रखा, बल्कि प्रबन्धमंडलों से महत्वपूर्ण रियायतें भी झटक लीं। 'आधुनिकीकरण' द्वारा प्रस्तुत चुनौती गुणात्मक रूप से भिन्न प्रकार की है। लेकिन ट्रेड यूनियनें भी तो अब अधिक शक्तिशाली तथा चुनौती का सामना करने में—लड़ाई के मैदान तथा वार्ता-मेज़, दोनों ही मोर्चों पर—अधिक समर्थ हैं। **इस तरह के समाकलित दृष्टिकोण का तात्कालिक परिणाम तो यह होगा कि नयी प्रौद्योगिकी कुछेक सु-निर्धारित क्षेत्रों तथा विशिष्ट प्रचालनों तक सीमित हो जायेगी, जबकि अन्य क्षेत्रों व प्रचालनों के द्वार उसके लिए बन्द हो जायेंगे जिससे कि बिना कोई ख़ास बलिदान किये अधिकतम लाभ प्राप्त किये जा सकेंगे।**

—हमने नयी प्रौद्योगिकी के प्रवर्तन द्वारा उत्पन्न की जाने वाली समस्याओं पर ग़ौर कर लिया है। इनमें से हरेक समस्या, मज़दूरों के अधिकारों तथा

सुविधाओं की रक्षा करने की दृष्टि से, (जैसे छँटनी व काम की कटौती को रोका न सके, विस्तार का प्रावधान करने ताकि रोज़गार-सामर्थ्य बनी रहे, प्रनर्प्रशिक्षण ताकि किसी भी प्रकार की पदावनति, मज़दूरी की हानि अथवा विस्थापन की अन्य असुविधाओं को रोका जा सके और नये भत्ते तथा काम की शर्तें दिलायी जा सकें) सामूहिक सौदेबाज़ी की माँग करती है।

—स्वास्थ्य-संकटों के मुद्दे पर विचार करें। जैसाकि प्रत्येक अन्य प्रौद्योगिकी के बारे में भी सही है, कंप्यूटर, रोबोट विज्ञान तथा जैव-अभियांत्रिकी आदि मज़दूरों को स्वास्थ्य के लिए नये ख़तरे प्रस्तुत करती है। उदाहरण के लिए, दृश्य प्रदर्शन इकाइयाँ वहाँ काम करने वाले लोगों के स्वास्थ्य को नेत्र-खिंचाव, गर्भ-संबंधी जटिलता (परेशानी), विकिरण-उत्सर्जन, आसन (मुद्रा) संबंधी समस्याओं, थकान आदि के लिहाज़ से जोखिम में डाल देती हैं। ज़ापान में एक जाँच के दौरान जिन लोगों से साक्षात्कार किया गया था उनमें से क़रीब 72 प्रतिशत को यह डर था कि "नयी प्रौद्योगिकियों के प्रवर्तन के परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य पहले कभी (अतीत) की तुलना में एकदम अलग तरह से प्रभावित होगा।"

क्या इसे तथा पिछले पैरा में वर्णित समस्याओं को प्रबन्धमंडलों की मर्ज़ी व दया के भरोसे छोड़ दिया जाना चाहिए? अथवा, क्या ट्रेड यूनियनों को इस मुद्दे पर अपनी बात कहने का निर्णायक अधिकार होना चाहिए? तकेशी कावाशिमा (जापान के ट्रेड यूनियन नेता) का कहना है, "यदि जापान में तथा अन्य उन्नत पूँजीवादी देशों में नयी प्रौद्योगिकियों का चलन, बिना समुचित नियंत्रण (ख़ास-कर ट्रेड यूनियनों के नियंत्रण) के, यूँ ही जारी रहा तो पूरी संभावना है कि मज़दूरों का जीवन व स्वास्थ्य नये गंभीर ख़तरों से घिर जायेगा।" जो बात जापान अथवा अन्य उन्नत पूँजीवादी देशों पर लागू होती है, वह स्वास्थ्य तथा अन्य समस्याओं की दृष्टि से भारत पर तो और भी अधिक लागू होती है।

—भारत में बैंक उद्योग (रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया तथा अन्य वाणिज्यिक बैंकों समेत) कंप्यूटरीकरण के सबसे बड़े हमले का शिकार हुआ है। इसके कारण भी एकदम स्पष्ट हैं। अपने कामकाज की विशालता एवं जटिलताओं के अलावा, यह बड़े व्यापार एवं वाणिज्य को अत्यन्त आवश्यक समर्थन सेवा भी उपलब्ध कराता है। अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ ने, अपनी शक्ति एवं एकता में प्रबल भरोसा रखते हुए, अंधाधुंध कंप्यूटरीकरण के तमाम प्रयासों का डटकर मुक़ाबला किया और साथ ही साँड के सींग पकड़ कर (यानी अपनी संगठित शक्ति के बल पर) इस संबंध में वार्ता करने तथा राष्ट्रीय एवं कर्मचारियों के हितों को ध्यान में रखकर समझौता करने को भी विवश कर दिया। इस बात से इनकार करना निरर्थक व काल्पनिक ही होगा कि कंप्यूटरीकरण से रोज़गार-सामर्थ्य प्रभावित होगा, हालाँकि बैंक उद्योग का विस्तार काफ़ी हद तक उस प्रभाव को

निष्क्रिय कर देगा। पर, जैसा अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ के महामंत्री ने कहा :

"समझौते में जहाँ ग्राहक सेवा तथा गृह व्यवस्था के लिहाज़ से बैंक व्यवसाय प्रणाली के विस्तार की ज़रूरतों का न्यायोचित ध्यान रखा गया है, वहीं कंप्यूटरों तथा मशीनों के उपयोग को बैंकों के कामकाज के कुछ ख़ास क्षेत्रों तक सीमित कर दिया गया है तथा स्टाफ़ के विस्थापन—यदि कहीं हुआ भी है तो—को न्यूनतम रखा गया है, और वह भी इस प्रावधान के साथ कि उन्हें उसी दफ़्तर में रख लिया जायेगा।

"यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बैंकों जैसे सेवा उद्योग में 'उच्च प्रौद्योगिकी' परिष्कृत मशीनों का अबाधित रूप से इस्तेमाल करने की कोशिशों संबंधी सरकारी नीति (जिसमें श्रम-विस्थापन तथा बढ़ती बेरोज़गारी की भी परवाह नहीं की गयी है) को सफलतापूर्वक नाकाम कर दिया गया है तथा इसका सारा श्रेय देश के बैंक कर्मचारियों के दृढ़ता के साथ एवं एकताबद्ध होकर डटे रहने को जाता है।"[1]

—उच्च प्रौद्योगिकी प्रवर्तित करने का प्रयास कोई अलग-थलग, असंबद्ध प्रयास नहीं है। **यह सरकार की नयी आर्थिक नीति संबंधी अभियानों का अंग है।** इसका साथ देते हैं वे पूँजीवादी आर्थिक सिद्धांत जो 20वीं शताब्दी के प्रतिमानों के हिसाब से भी पुराने पड़ गये हैं। इसे समर्थन देते हैं वे मज़दूर-विरोधी क़ानून जिनका उद्देश्य ट्रेड यूनियन एवं जनवादी अधिकारों में काट-छाँट करना तथा सामूहिक सौदेबाज़ी को प्रतिबंधित करना है। इसलिए 'नयी प्रौद्योगिकी' के संबंध में ट्रेड यूनियन कार्रवाई को मज़दूर-विरोधी क़ानूनों के ख़िलाफ़ की जाने वाली ट्रेड यूनियन कार्रवाई का साथ निभाना होगा, तथा ताज़ादम पूँजीवादी आर्थिक सिद्धांतों के ख़िलाफ़ विचारधारात्मक अभियान का अंग बनना होगा।

—यहाँ से हम मज़दूर वर्ग के संघटन में परिवर्तन तथा नयी कार्यनीतिक नज़रियों की ज़रूरत के सवाल पर आ पहुँचते हैं।

सबसे पहले बेरोज़गारों की बढ़ती हुई संख्या तथा काम कम होते जाने का निरन्तर बना ख़तरा बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ अधिक ट्रेड यूनियन कार्रवाई की माँग करते हैं। अभी तक ट्रेड यूनियनें पूरी तरह से उन मज़दूरों के बारे में चिंतित रही हैं जो रोज़गार पाये हुए हैं, तथा अधिक संकुचित रूप से, केवल स्थायी मज़दूरों से उनका सरोकार रहा है। अब अपने वर्ग के हित में, उन्हें अपने संघर्ष

---

1. तफ़सील के लिए देखें—भारतीय बैंक संघ तथा अखिल भारतीय बैंक कर्मचारी संघ एवं राष्ट्रीय बैंक कर्मचारी महासंघ के बीच 29 मार्च, 1987 को हस्ताक्षरित समझौता।

को अशंकालीन, अस्थायी, ठेका, 'बुलावे पर' मज़दूरों के ही नहीं बल्कि बेरोज़गारों के संघर्षों के साथ समन्वित करना अत्यन्त आवश्यक है। उन्हें इन संघर्षों को संगठित करने में पहल व नेतृत्व करना होगा।

दूसरे, नौकरियों की बदलती हुई तस्वीर भौतिक उत्पादन में प्रत्यक्षतः संलग्न मज़दूरों की तुलना में, सेवा एवं संचार उद्योगों में मज़दूरों की सापेक्ष वृद्धि को दर्शाती है। सफ़ेद कालर वाले मज़दूरों प्रविधिज्ञों आदि की संख्या तथा उनके द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका में वृद्धि हो रही है। एक नये क़िस्म का मज़दूर भी उभर रहा है जिसके काम में बौद्धिक श्रम के अनुपात की प्रधानता है। यह हिस्सा ऊपर उठकर मज़दूर वर्ग के बुद्धिजीवियों के स्थान तक पहुँच रहा है। साथ ही योग्यता प्राप्त इंजीनियर एवं विशेषज्ञ भौतिक उत्पादन के क्षेत्र में अथवा उससे जुड़ी वैज्ञानिक संस्थाओं में अधिकाधिक भागीदारी निभा रहे हैं। ये दोनों एक-दूसरे के नज़दीक आ रहे हैं। दूसरे छोर पर, अकुशल मज़दूरों---जो किसी भी प्रकार की विशिष्टता से विहीन हैं तथा जिन्हें आम ढर्रे का काम करना होता है---की संख्या भी बढ़ रही है। इनमें से प्रत्येक हिस्सा विशिष्ट ट्रेड यूनियन नज़रिये की अपेक्षा रखता है ताकि उसे साझे आंदोलन में सम्मिलित होने को प्रेरित किया जा सके।

इस सबके परिणामस्वरूप, मज़दूर वर्ग की पाँतों में वृद्धि ही हुई है, कोई कमी नहीं आयी है। नये हिस्से ट्रेड यूनियन आंदोलन में प्रवेश कर रहे हैं तथा ट्रेड यूनियन संघर्षों में भागीदारी निभा रहे हैं। संघर्ष के मंच भी अनिवार्य रूप से विविध रूप ग्रहण कर रहे हैं। पूँजीपति-वर्ग बेशक एक हिस्से को दूसरे हिस्से से लड़ाने की तथा उनकी पाँतों में जो दरारें हैं उनका दोहन करने की कोशिश करता है। एकता क़ायम करने के प्रश्न पर ट्रेड यूनियन नेतृत्व का अधिक ध्यान तथा चौकसी इसलिए आवश्यक हो जाते हैं।

पाठ : 27

निजीकरण के ख़िलाफ़ संघर्ष : सार्वजनिक क्षेत्र की रक्षा तथा विस्तार के लिए

—पहले भाग के 5वें पाठ में सार्वजनिक क्षेत्र की उत्पत्ति तथा विकास का, भारतीय अर्थव्यवस्था में उसके स्थान आदि का विवेचन किया गया है। उसका सारांश इस प्रकार है :

—भारत में तथा अन्य विकासमान देशों में सार्वजनिक क्षेत्र का उदय तब हुआ जब वे उपनिवेशीय दासता की बेड़ियों से मुक्त हो चुके थे। ऐसा होने के पीछे कई ऐतिहासिक कारण थे। पिछड़ेपन तथा अल्प विकास की विरासत के बोझ से दबे हमारे देश ने सार्वजनिक क्षेत्र निर्मित करने का काम ख़ास तौर से इस उद्देश्य से हाथ में लिया कि तीव्र आर्थिक विकास एवं औद्योगिकीकरण में सहायता की जा सके, प्रमुख वित्तीय तथा आर्थिक उत्तोलकों पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सके, भारी उद्योगों का ऐसा मर्म निर्मित किया जा सके जो विकास के लिए क्षमता व सामर्थ्य उत्पन्न कर सके। ये ऐसे ध्येय थे जिन्हें निजी क्षेत्र की प्रचलित अवस्था में, उद्यमी न तो हाथ में ले लेने में समर्थ थे और न इच्छुक ही थे। शक्तिशाली तथा विस्तृत होता हुआ सार्वजनिक क्षेत्र आत्म-निर्भर एवं स्वाधीन अर्थव्यवस्था के विकास का इंजन बन गया।

—पूँजीवादी व्यवस्था में जहाँ शोषकवर्ग सत्ता की निर्णायक स्थिति में है, सार्वजनिक क्षेत्र वास्तव में राज्य पूँजीवादी क्षेत्र ही होता है। पर इसने अर्थव्यवस्था की बुनियादी आधारशिलाओं को सुदृढ़ करने में तथा साम्राज्यवादी दबावों पर क़ाबू पाने में सहायता की है। सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण में समाजवादी देशों की सहायता ने प्रतिरोध की इस शक्ति को बढ़ाने में बहुत सहायता की है। क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा देने तथा रोज़गार के अवसर पैदा करने में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण रही है। इस प्रकार इसने वस्तुगत रूप से प्रगतिशील भूमिका अदा की है। इसकी तमाम कमज़ोरियों तथा कमियों के

बावजूद ट्रेड यूनियनों ने इसके प्रति सकारात्मक नज़रिया अपनाकर ठीक ही किया है।

—लेकिन शासक हलक़ों ने बड़ी पूँजी की शह पर, इन कमियों व कमज़ोरियों को लपक कर नीति को बड़े पैमाने पर उलट दिया, जिससे सार्वजनिक क्षेत्र कमज़ोर होगा, उसका दर्जा घटेगा, उसका निजीकरण होगा तथा देशी एवं विदेशी इजारेदार पूँजी के हित में इसे क्रमशः छिन्न-विच्छिन्न कर दिया जायेगा। कि यह नीति अभियान इतनी दूर तक नहीं पहुँच पाया है जितनी कि इसके पीछे मंशा रही होगी, उसका पूरा श्रेय इस बात को जाता है कि इसने मज़दूरों तथा उनकी ट्रेड यूनियनों के साथ-साथ और दूसरे हलक़ों में भी प्रबल प्रतिरोध जागृत कर दिया है।

—अकुशलता, नौकरशाही तथा सर्वोच्च प्रबंध—पदों, दुर्लभ संसाधनों के अपव्यय, विनियोगों से असंतोषजनक आमदनी तथा लगातार बढ़ते जाते घाटों, क्षमता से कम प्रयोग, निम्न गुणवत्ता, तथा समुदाय की असंतोषजनक सेवा संबंधी तर्कों का सहारा लिया जाता है ताकि सार्वजनिक क्षेत्र को लोगों की नज़रों में गिराया जा सके और इसके विपरीत निजी क्षेत्र के गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जा सके।

—दरअसल, 'निजीकरण' की ओर अभियान की शुरुआत तथाकथित विकसित देशों के साथ भी हो चुकी है। जैसाकि, विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ के महासचिव ने सितंबर 1986 में बर्लिन में आयोजित ग्यारहवीं कांग्रेस में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में कहा है :

"बड़ी पूँजी ने मुनाफ़ों के लिए अपने पागलपन भरे अभियान के तहत सख़्त पुनर्गठन, समूचे उद्योगों के विस्थापन, तथा नौकरियों को बड़े पैमाने पर नष्ट करने की योजना बनाई है, जिसके परिणाम स्वरूप लाखों लोग नयी ग़रीबी में जी रहे हैं। वे पूँजीवादी नीतियों द्वारा मंदी तथा संकट की गंभीर बनायी गयी स्थितियों के शिकार हैं इससे संतुष्ट न होकर वे अर्थव्यवस्था में तथा समाज में इजारेदारियों की संपूर्ण सत्ता के लिए भरसक प्रयत्न कर रहे हैं।

"इजारेदारियों की इन माँगों का जो उनके प्रभाव के अधीन सरकार की नीतियों में व्यक्त होती हैं, उद्देश्य राज्य द्वारा नियमन तथा अर्थव्यवस्था पर जनवादी ढंग से निर्वाचित निकायों के नियंत्रण को पूरी तरह ध्वस्त करना है। ये नीतियाँ, जिन्हें 'आर्थिक उदारवाद' के रूप में ज़ोर-शोर से प्रचारित किया जाता है, 'नियमन' तथा 'राष्ट्रीयकरण' की नीति को पलटने की माँग करती हैं। वे इजारेदारियों के लिए संपूर्ण सत्ता की माँग करते हैं ताकि अर्थव्यवस्था तथा मेहनतकशों पर जकड़ बढ़ाई जा सके और अधिकतम मुनाफ़े कमाए जा सकें।

"तेल निर्यातक देशों में तथा कुछ विकासमान देशों में विराष्ट्रीयकरण तथा

निजीकरण की बाढ़ ही आ गयी है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष इसे विकासमान देशों को क़र्ज़ देने की प्रमुख शर्त बना देता है।

"इस खूँखार आर्थिक हमले के साथ विचारधारात्मक हमला भी सामने आ जाता है जब यह दावा किया जाता है कि सिर्फ़ निजी पूँजीवादी क्षेत्र ही अर्थ-व्यवस्था को सम्हालने में सफल हो सकता है तथा सार्वजनिक क्षेत्र उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। दरअसल व्यवहार में अभी भी हो यह रहा है कि बड़े मुनाफ़े कमाने वाले सभी क्षेत्रों को निजी इजारेदारियों को सौंप दिया जाता है तथा राज्य एवं सार्वजनिक क्षेत्र में वे उद्योग छोड़ दिए जाते हैं जो संकट में होते हैं, तथा यह संकट भी ऐसा होता है जोकि निजी क्षेत्र की इजारेदारियों द्वारा की जाने वाली शर्मनाक लूटपाट व चोरी से पैदा होता है..."[1]

—जापानी ट्रेड यूनियनों ने इस बात की ओर ध्यान खींचा है कि जापानी राष्ट्रीय रेलवे के निजीकरण के मायने थे निजी विनियोजकों को एक हज़ार अरब डॉलर से अधिक का उपहार। साथ ही पचास हज़ार से अधिक मज़दूरों की छुट्टी कर दी गयी।

—इजारेदार समूहों तथा उनके प्रवक्ताओं के दबाव में भारत सरकार ने भी सार्वजनिक क्षेत्र के ख़िलाफ़ देश में ऐसा ही हमला बोल दिया है। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी सरकार पर लगातार अपना दबाव बढ़ा रही है जिससे कि सार्वजनिक क्षेत्र के कामकाज के प्रति असंतोष को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करके पूर्ववर्ती सरकारों की नीति की दिशा को पलटा जा सके। अधिकृत अमरीकी धारणा यह है कि भारत जैसे कर्ज़दार देशों को दी जाने वाली अंतर्राष्ट्रीय सहायता का उद्देश्य निजी क्षेत्र को बढ़ावा देना तथा सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित करना तथा अतत: समाप्त कर देना चाहिए। इजारेदार घरानों तथा सरकारी हलक़ों, जो आर्थिक उदारता-वाद के ज़बर्दस्त समर्थक बन गए हैं, द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र पर सोचे-विचारे तथा ज़ोरदार हमलों तथा निजीकरण के अभियान के पीछे ये ही कारण हैं यह कोई संयोग नहीं है कि इस नज़रिए तथा सार्वजनिक क्षेत्र के मज़दूरों के ख़िलाफ़ चलाए जाने वाले निंदा अभियानों और कड़े संघर्षों के परिणामस्वरूप प्राप्त किए गये ट्रेड यूनियन अधिकारों व विशेषाधिकारों पर किए जाने वाले हमलों के बीच गहरा संबंध है। प्रधान मंत्री यह कह ही चुके हैं कि भारतीय सार्वजनिक क्षेत्र के मज़दूर दुनिया में सबसे ज़्यादा निकम्मे हैं। निजीकरण की दिशा में चलाए जाने

---

1. ग्यारहवीं विश्व ट्रेड यूनियन कांग्रेस, (बर्लिन, सितंबर 1986) की 'रिपोर्टें तथा दस्तावेज़'

वाले अभियान की घटनाएँ लगातार सामने आती जा रही हैं।[1]

—अलग-अलग देशों में निजीकरण की ओर अभियान अलग-अलग रूप ग्रहण कर लेता है जो हर देश की परिस्थितियों पर आधारित होते हैं। पर इसके कई समान लक्षण भी हैं जो नीचे दिए जा रहे हैं ये किसी भी तरह से संपूर्ण नहीं हैं। इनमें से अधिकांश का, अलग-अलग अथवा संयोजित रूप में, भारत में सहारा लिया जा रहा है।

—पहला है, राज्य स्वामित्व वाले उद्यमों की बिक्री अथवा बंदी। यहाँ तर्क यह दिया जाता है कि राज्य पर लाइलाज घाटा देने वाली इकाइयों का बोझ नहीं डाला जा सकता तथा यह कि संसाधनों का अन्यत्र बेहतर इस्तेमाल किया जाना चाहिए। लेकिन जहाँ राज्य द्वारा प्रवर्तित बुनियादी उद्योगों तथा उनकी लाभ क्षमता सिद्ध हो जाने पर भी इन उद्योगों को निजी क्षेत्र को इसलिए बेच दिया गया कि इनसे प्राप्त होने वाले धन का इस्तेमाल अन्य उद्योगों की शुरुआत के लिए किया जा सकता है। सभी मामलों में, निजी क्षेत्र को ये इकाइयाँ कौड़ियों के मोल मिल गयीं। बंदी तथा अपहरण की तमाम घटनाओं में मज़दूरों के रोज़गार पर बने रहने की बात को नज़रंदाज़ कर दिया जाता है।

—दूसरा, सार्वजनिक क्षेत्र के कई प्रतिष्ठानों के प्रबंधन का काम उद्योग के उन योद्धाओं को सौंप दिया जाता है जिन्हें कुशल प्रबंधन के मानक के रूप में गरिमामंडित किया जाता है। निजी क्षेत्र के अधिकारियों को सार्वजनिक क्षेत्र के निदेशक मंडलों में अधिकाधिक सम्मिलित किया जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के प्रबंधन की देखरेख व खोज-खबर के लिए निजी एजेंसियाँ क़ायम की जा रही हैं। विदेशी इजारेदारों को पीछे करके जो सलाहकार फ़र्में काम कर रही हैं, उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र को उद्योगों पर थोपा जा रहा है। भारत के संदर्भ में, आप्रवासी भारतीयों द्वारा स्थापित फ़र्मों का इन पर झीना-सा पर्दा पड़ा हुआ है। इस तरह जो संबंध स्थापित होता है वह देशी तथा विदेशी दोनों ही इजारेदारों को इस बात की सुविधा प्रदान कर देता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को कई तरह से अपने हितों के अधीन बनाया जा सके।

—तीसरा, अब तक पूरी तरह सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों को इस दलील पर खोल दिया गया है कि प्रतिस्पर्धा की भावना, कुशलता एवं नये प्रयोगों के लिए प्रेरणा का काम करती है।

—चौथा, सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के शेयरों को निजी पक्षों के लिए खुला

---

1. देखें : अर्जुन सेनगुप्ता समिति रिपोर्ट। पूरी रिपोर्ट सीटू द्वारा प्रकाशित की गयी है। 'एटक के तेतीसवें अधिवेशन में प्रस्तुत सूचना सामग्री' में भी इसे विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

छोड़कर उन्हें प्रबंधन में भागीदारी निभाने के लिए आमंत्रित किया जाता है।

—पाँचवाँ, सार्वजनिक क्षेत्र के स्थान पर ऐसे साझे उद्यम शुरू किये जाते हैं जिनमें न केवल आम जनता की बल्कि निजी कम्पनियों की भी शेयरों में भागीदारी होती है। ये कम्पनियाँ पचीस प्रतिशत अथवा उससे भी कम शेयरों के धारक बनकर इन उद्यमों के प्रबंधन को अपने हाथ में ले लेती हैं। सरकार निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र के लिए प्रबंधन समझौते करने की जी-तोड़ कोशिश करती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि तीसरे, चौथे व पाँचवें बिंदु के संदर्भ में जहाँ सरकार के पास संसाधनों के अभाव का तर्क दिया जाता है, ये निजी कम्पनियाँ लगभग हर बार सार्वजनिक क्षेत्र की वित्तीय संस्थाओं से अपने संसाधन जुटाने में सफल हो जाती हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों से कर्ज़ लेकर तथा फिर शेयर ख़रीदकर निजी बैंक कायम कर दिये जाते हैं (ख़ासकर बंगला देश में)।

—छठा, उच्च प्रौद्योगिकी आयातित करने तथा तकनीकी जानकारी प्राप्त करने के नाम पर अधिकांश देशों द्वारा परराष्ट्रीय निगमों के साथ सहयोग समझौते करने पर, हालाँकि बहुत ही कठिन शर्तों पर ज़ोर दिया जाता है। परराष्ट्रीय निगम इन देशों की अर्थव्यवस्था के नये क्षेत्रों में बहुत कम लागत पर ही नियंत्रण प्राप्त करके अधिकाधिक मुनाफ़े कमा रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक की सलाह पर आयात में दी जाने वाली छूटों से सार्वजनिक क्षेत्र की स्वदेशी औद्योगिक इकाइयों, जो बड़ा सामान बनाती हैं, पर चोट पड़ती है तथा वे अपनी क्षमता से बहुत कम काम करने तथा उन्हें मिलने वाले आदेशों का आकार घटते जाने की समस्याओं का सामना तो करती ही हैं, वे प्रौद्योगिकियाँ भी बुरी तरह से प्रभावित होती हैं जो स्थानीय रूप से विकसित की गयी हैं तथा जो इन देशों के भीतर उपलब्ध हैं। परराष्ट्रीय निगमों के समक्ष सार्वजनिक क्षेत्र के प्रौद्योगिक समर्पण का ख़तरा वास्तविक बन गया है।

—सातवाँ, कुछ देशों में ऐसी नियंत्रक कंपनियाँ, जिनमें निजी उद्यमियों के भी शेयर होते हैं तथा जो उन्हें प्रबंधन के तहत चलाती हैं, क़ायम करके सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को निजी क्षेत्र के नियंत्रण में ले आया जाता है।

—आठवाँ, अभी तक पुरजों के उत्पादन का तथा उनकी आपूर्ति का जो काम सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में हुआ करता था अब उसे 'लाइसेंसशुदा उत्पादन' की योजनाओं के तहत निजी क्षेत्र को सौंपा जा रहा है। रक्षा उत्पादन के संवेदनशील वस्तुओं तक के संदर्भ में ऐसा किया जा रहा है। इसी तरह कई सेवाओं का भी निजी क्षेत्र को ठेका दिया जा रहा है। ख़ासकर सुविधाओं एवं संचार के क्षेत्र में ज़िम्मेदारी से मुक्त होने के ऐसे प्रयास किये जा रहे हैं।

—नवाँ, सार्वजनिक क्षेत्र में रखरखाव तथा कामों की कई अन्य श्रेणियाँ

निजी ठेकेदारों को सौंपी जा रही हैं। यह जिस पैमाने पर किया जा रहा है उसके परिणाम काफ़ी गंभीर होंगे।[1]

—भारत में तथा अन्य देशों में भी 'निजीकरण' द्वारा प्रस्तुत चुनौती को मज़दूरों तथा ट्रेड यूनियनों ने स्वीकार कर लिया है, इसके रूप अलग-अलग हो सकते हैं। उनकी समझ में यह आ गया है कि निजीकरण की दिशा में अभियान इज़ारेदार घरानों को नयी खतरनाक रियायतें देने, नये क्षेत्रों में उन्हें अबाधित प्रदेश प्रदान करने का तथा विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपानियों को आकृष्ट करने का तथाकथित अतिरिक्त श्रम-बल को कम कर देने तथा मज़दूरी को उत्पादकता के साथ जोड़ देने का प्रयास है—और यह सब कुशलता प्रतिस्पर्धा, मालों एवं सेवाओं की गुणवत्ता आधुनिकीकरण और न जाने किस-किसके नाम पर। मज़दूर वर्ग इसे न केवल अपनी आजीविका के लिए खतरा मानता है बल्कि अपने देशों के भविष्य

---

1. विकासमान देशों के कर्ज़ संकट का लाभ उठाने की दृष्टि से निरंतर बढ़ते हुए कर्ज़ों के एक समाधान के रूप में सार्वजनिक क्षेत्र में घुसपैठ तथा बढ़े हुए नियंत्रण का सुझाव दिया जा रहा है। इसे 'कर्ज़-साम्यता अदला-बदली' की संज्ञा दी गयी है।

   इससे संभावित विनियोजक को किसी धन केंद्र बैंक से किसी देश के कर्ज़ को समूचा अथवा आंशिक रूप में कटौती पर खरीदने की अनुमति मिल जाती है। धन को स्थानीय मुद्रा में बदलकर विनियोजक इसकी अदला-बदली मौजूदा राज्य संचालित उद्यमों से कर लेता है अमरीकी पत्रिका 'बिज़नेस वीक' (19 जनवरी, 1987) में लिखते हुए एक अमरीकी लेखक ने यह टिप्पणी की थी: "इसका अर्थ यह है कि ग़रीब राष्ट्रों को अपने राज्य संचालित उद्यम बेच देने चाहिए, आर्थिक नियोजन को तिलांजलि दे देनी चाहिए, अमरीकी बैंकों को स्थानीय वित्तीय बाज़ारों में खुली पहुँच की सुविधा दे देनी चाहिए, तथा आमतौर पर उन नियमों तथा क़ानूनों से छुटकारा पा लेना चाहिए जोकि विदेशी विनियोगों को परिसीमित करते हैं।" भारत इस तरह की घुसपैठ के लिए काफ़ी कड़ा ग्राहक है। लेकिन तथाकथित ग़ैर निवासी भारतीयों की छल योजनाओं को अधिक ध्यान से देखने की ज़रूरत है जिन्हें भारत में परिसंपत्तियाँ अर्जित करने, भारत में विनियोग करने तथा विदेशों में सलाहकार फ़र्में चालू करने के लिए हरसंभव तरीक़े से प्रोत्साहित किया जा रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को इन फ़र्मों से सलाह लेना अनिवार्य बना दिया गया है। इन फ़र्मों का अप्रवासी भारतीयकरण परराष्ट्रीय निगमों तथा विदेशी बैंकों द्वारा घुसपैठ पर पड़ा हुआ एक हल्का-सा आवरण है, जिसकी इस पाठ में पहले ही चर्चा की जा चुकी है।

तथा सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के लिए भी ख़तरा मानता है। निजीकरण का विरोध करते हुए मज़दूर वर्ग अपने लिए उतना नहीं लड़ता जितना कि समूचे देश के लिए लड़ता है। ट्रेड यूनियनों ने, अपने वैचारिक आग्रहों तथा संगठनात्मक संबद्धताओं से ऊपर उठकर निजीकरण के विरोध में स्वयं को पूरी ताक़त के साथ अभिव्यक्ति दी है तथा निजीकरण को बंद करने की माँग करते हुए एक साथ आकर साझी जन-कार्रवाइयों के माध्यम से एकताबद्ध भी किया है। जैसाकि विश्व ट्रेड यूनियन महासंघ की पूर्व उद्धृत रिपोर्ट में भी कहा गया है :

"....मज़दूरों तथा जनता की भागीदारी तथा जनवादी हस्तक्षेप के बग़ैर आगे आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति की कल्पना तब तक नहीं की जा सकती। ट्रेड यूनियनों को इसलिए आर्थिक प्रबंधन के जनवादी अभिमुखीकरण के पक्ष में तथा बड़ी पूँजी के लाभ केंद्रित अभिमुखीकरण के ख़िलाफ़ अपनी बराबर शक्ति का प्रयोग करने में समर्थ होना चाहिए।

"सौभाग्य से ट्रेड यूनियन आंदोलन के विभिन्न घटकों के भीतर आज यह मुख्य प्रवृत्ति बन गयी है।

"....राष्ट्रीय माँगों के आधार पर प्रत्येक देश में जो संघर्ष विकसित हो रहे हैं वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मिलकर, समर्थन प्राप्त करके, तथा एकताबद्ध होकर सभी पूँजीवादी देशों में सरकारों तथा मालिकों द्वारा प्रेरित प्रतिगामी क़दमों तथा मिलते-जुलते हमलों के ख़िलाफ़ एकजुटता का मोर्चा प्रस्तुत कर रहे हैं।"

—निजीकरण के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग की कार्रवाइयों के सैलाब के प्रतीक के रूप में 21 जनवरी, 1987 को हुई भारतीय सार्वजनिक क्षेत्र के मज़दूरों द्वारा की गयी उस हड़ताल को लिया जा सकता है जिसमें कम-से-कम 20 लाख मज़दूरों ने भाग लिया था। इसे सतत एवं संयुक्त अभियान की आगे की अवस्थाओं द्वारा आगे बढ़ाया जा रहा है। स्थानीय एवं तात्कालिक कार्रवाइयाँ, उद्योग केंद्रित कार्रवाइयाँ लगातार ज़ारी हैं। प्रस्तावित नियंत्रक कंपनियों तथा निजी क्षेत्र के समक्ष समर्पण के ख़िलाफ़ 28 अप्रैल, 1987 को बंग्लादेश में राष्ट्रव्यापी हड़ताल हुई तथा उसके बाद उससे भी ऊँचे राजनीतिक स्तर पर विरोध हुए। अन्य बहुत से देशों में भी ऐसी ही कार्रवाइयों के उदाहरण सामने आते हैं।

—क्या इसका अर्थ यह है कि मज़दूर तथा उनकी ट्रेड यूनियन सार्वजनिक क्षेत्र के काम-काज की कमियों व कमज़ोरियों के बारे में चिंतित नहीं हैं? दरअसल, ऐसा नहीं है। उन्होंने प्रबंधन में तानाशाही पर रोक लगाने तथा सभी स्तरों पर निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में मज़दूरों की भागीदारी के ज़रिये उसका जनवादीकरण करने की माँग उठायी है। समान भागीदारों के रूप में भागीदारी का यह भाव, उनका यह मानना है, एक बार पैदा हो जाय तो फिर उत्पादकता एवं सेवा-शर्तें सुधारने के लिए मज़दूरों का सहयोग सचेतन रूप से उपलब्ध होता रहेगा।

मज़दूरों तथा उनके संगठनों ने सार्वजनिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का ज़ोरदार ढंग से पर्दाफ़ाश किया है तथा अधिक जवाबदेही की माँग की है। उन्होंने ऐसी मूल्य नीति की माँग की है जो लाभशीलता को सुरक्षित करे तथा निजी क्षेत्र द्वारा अपने बड़े मुनाफ़ों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के दोहन को रोके। उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र की बुराइयों को दूर करके उसे विकसित करने व शक्तिशाली बनाने पर आधारित विकास का एक वैकल्पिक मार्ग भी दिखलाया है। उन्होंने शासक वर्गों द्वारा समर्थित आर्थिक उदारतावाद के सिद्धांत के ख़िलाफ़ विचारधारात्मक एवं व्यावहारिक संघर्ष भी चलाया है। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने कार्रवाइयाँ भी की हैं।

—अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के न केवल मज़दूर बल्कि इंजीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ, अधिकारी तथा प्रशासक भी सरकार के सार्वजनिक क्षेत्र विरोधी रवैये के ख़िलाफ़ खुलकर सामने आये हैं। अर्थशास्त्रियों, सार्वजनिक व्यक्तित्वों तथा अनेक राजनीतिक पार्टियों एवं समूहों ने निजीकरण अभियान तथा उदारतावाद के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद की है।

—अनेक जनवादी हलक़ों द्वारा किये गये विरोध तथा ट्रेड यूनियनों द्वारा किये गये कड़े प्रतिरोध के सामने तथा राजनीतिक एवं आर्थिक संकट (जो सरकार की अदूरदर्शी नीतियों से और गहरा हो गया है) से परेशान होकर स्वयं प्रधान मंत्री को सार्वजनिक क्षेत्र विरोधी अपने वक्तव्यों को कई बार वापस लेना पड़ा है। सरकारी हलक़ों से भ्रमित तथा अक्सर एक-दूसरे को काटती हुई आवाज़ें आती हैं। निजीकरण का खुला अभियान स्थगित होता-सा इसलिए दिखायी देता है कि सरकारी हलक़े भी कभी-कभी विवेक को वीरता का बेहतर हिस्सा समझने को मजबूर हो जाते हैं। किंतु बड़ी पूँजी के हितों द्वारा आदेशित बुनियादी नीति दिशा न तो छोड़ी जाती है और न पलटी ही जाती है। इस सबके आलोक में, इस मुद्दे पर संघर्ष के यथासंभव व्यापक मोर्चे के लिए एकदम अनुकूल एवं अनेक संभावनाएँ दिखायी देती हैं। जहाँ ट्रेड यूनियनों की भूमिका नेतृत्वकारी होगी। साथ ही इसे विशुद्ध ट्रेड यूनियन मामले से ऊपर उठाकर राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित संघर्ष का रूप भी दिया जा सकता है।

पाठ : 28

ट्रेड यूनियन एकता के लिए संघर्ष

—"एकता असीम रूप से मूल्यवान है, तथा मज़दूर वर्ग के लिए असीम रूप से महत्वपूर्ण है। असंगठित होने पर कुछ नहीं रह जाते। संगठित होने पर वे सब कुछ हो जाते हैं!"[1]

—अन्य देशों की भाँति हमारे देश में भी ट्रेड यूनियनों का उदय मज़दूरों को कारख़ाने, उद्योग, स्थानीय, प्रांतीय एवं उसके बाद राष्ट्रीय स्तर पर संगठित करने की ज़रूरत से हुआ था ताकि मालिकों के हमलों का प्रतिरोध किया जा सके तथा काम की मानवीय परिस्थितियाँ प्राप्त की जा सकें। इसी ज़रूरत से 1920 में सबसे पहले तथा ट्रेड यूनियनों के अखिल भारतीय संगठित केन्द्र के रूप में एटक का जन्म हुआ था। तब भी कुछ यूनियनें—जैसे गांधीजी द्वारा स्थापित अहमदाबाद की मजूर महाजन—इससे बाहर रही थीं। राजनीतिक विचार—राष्ट्रीय स्तर पर एक वर्ग के रूप में मज़दूरों को एकताबद्ध न होने देने की 'राजनीति'—इसके आड़े आयी। फिर भी आरम्भिक वर्षों में विभिन्न राजनीतिक समूहों एवं व्यक्तियों की एकता में एटक के काम के ज़रिये आशाओं को बढ़ाया तथा समूचे देश में ट्रेड यूनियन आंदोलन के तीव्र विकास को बढ़ावा दिया। बहरहाल, जैसाकि पहले के एक पाठ में बताया गया है, कई ऐतिहासिक कारणों से भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन तीक्ष्ण रूप से विभाजित एवं विखंडित है। संयंत्र के स्तर पर अथवा स्थानीय स्तर पर यूनियनों की बहुलता तथा प्रतिद्वन्द्वी संगठनों से जो शुरुआत होती है वह राष्ट्रीय स्तर पर कई केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संगठनों में चित्रित होती है। सर्वोच्च स्तर पर जो विभाजन है वह सबसे निचले स्तर तक पहुँच जाता है। यह विभाजन आड़ा व सीधा दोनों ही है। इसने तथाकथित 'स्वतंत्र' यूनियनों व फ़ैडरेशनों को बढ़ावा दिया है जो सभी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों से दूरी बरतते हैं।

---

1. लेनिन, संकलित रचनाएँ, खंड 19

औद्योगिक फ़ैडरेशनों के स्तर पर हमारा सामना अलग-अलग केन्द्रों से संबद्ध प्रतिद्वन्द्वी फ़ैडरेशनों तथा असंबद्ध फ़ैडरेशनों से भी होता है। इन स्वतंत्र फ़ैडरेशनों की कुल सदस्य संख्या भी काफ़ी है।

संयंत्र के स्तर पर प्रतिद्वन्द्विता अक्सर 'अर्थवाद' संबंधी प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है। यह एक-दूसरे की जड़ें काटने के प्रयासों को, और कभी-कभी तो शारीरिक हिंसा तथा अनावश्यक औद्योगिक कार्रवाइयों की सीमा तक, को जन्म देती है। प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में ट्रेड यूनियन सरगनाओं तथा 'दादाओं' का उदय हो गया है। यूनियनों के बीच की प्रतिद्वन्द्विता प्रबंधमंडलों तथा सरकार के ख़िलाफ़ कारगर एवं व्यापक कार्रवाइयाँ संगठित करने की मज़दूरों की क्षमता को बाधित करती हैं। सबसे ज़्यादा दुखदायी चित्र वहाँ सामने आता है जहाँ प्रतिद्वन्द्वी यूनियनें —प्रत्येक लालझंडा लहराती हुई, समाजवादी विचारधारा की सौगंध खाती हुई तथा ट्रेड यूनियन एकता का आह्वान करती हुई—व्यवहार में संयंत्रों व उद्योगों में मज़दूरों को विभाजित किये रखती हैं। इससे मज़दूर भ्रमित ही होते हैं तथा एक 'वर्ग' के रूप में उनके सुदृढ़ीकरण में विलम्ब होता है। इससे लाल झंडा जिस चीज़ का भी प्रतीक है उसके प्रति उनकी निष्ठा पर असर पड़ता है। कुछ हिस्से इसके बाद दूर हट जाते हैं तथा दूसरे झंडों के तले इकट्ठा होने लगते हैं। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि ट्रेड यूनियन आंदोलन की शक्ति तथा सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव आज जितना है उससे कहीं अधिक होता यदि सभी स्तरों पर विभाजन एवं प्रतिद्वन्द्विता ने ट्रेड यूनियनों को परेशान न कर दिया होता तो।

—मौजूदा स्थिति की माँगें विवश करने वाली हैं। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के संकट तत्व पहले कभी से अधिक जटिल और ख़तरनाक बन गये हैं।

—उसे विश्वशांति एवं स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में अग्रणी भूमिका अदा करनी है।

—उसे भीतरी एवं बाहरी समस्त विघटनकारी शक्तियों के ख़िलाफ़ तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता की रक्षा में प्रमुख सामाजिक शक्ति के रूप में आगे आना है।

—उसे सभी जातियों एवं समुदायों को समाहित करने वाली टिकाऊ एवं संगठित शक्ति—जिसे वर्गीय लड़ाइयों का अनुभव है—सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक दंगों के ख़िलाफ़, धर्म-निरपेक्षता एवं सद्भाव की रक्षा में खड़ा होना है।

—उसे जनविरोधी तथा राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल आर्थिक नीतियों के ख़िलाफ़ संघर्ष में सबसे अगली पंक्ति में होना है।

—उसे अवसरवादी पूंजीवादी राजनीति का विरोध करना है, जनवादी अधिकारों की रक्षा करनी है, सेवा सुरक्षा, मज़दूरी, काम की शर्तों तथा ट्रेड

यूनियन अधिकारों पर होने वाले हमलों का प्रतिरोध करना तथा उन्हें परास्त करना है।

—इसके बग़ैर देश मौजूदा संकट से उबर नहीं सकता तथा सामाजिक प्रगति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता। मज़दूर वर्ग जब तक सचेतन रूप से ऊपर वर्णित प्रयत्न नहीं करेगा तब तक न तो वह अपनी रक्षा कर सकता है और न आगे बढ़ सकता है। ऐसी स्थिति में मज़दूरों की पाँतों को एकताबद्ध रखना, मज़दूर वर्ग की एकता को सुदृढ़ करना तथा संयुक्त कार्रवाई करना बेहद ज़रूरी है। ट्रेड यूनियनों का 'राजनीति' से 'दूर रहने' का तथा अपनी रोज़मर्रा की समस्याओं तक ही सीमित रहने का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। सुधारवादी ट्रेड यूनियन नेता तक इस वस्तुगत यथार्थ को स्वीकार करने लगे हैं।

—सबसे पहले तथा सबसे पुराने केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संगठन के रूप में एटक ने सदा ही ट्रेड यूनियन एकता का समर्थन किया है तथा ट्रेड यूनियन में आये बिखरावों के असर पर क़ाबू पाने की कोशिश की है। इसे ध्यान में रखकर कई नये क़दम उठाये गये हैं, जिनमें 1978 के दौरान तथा फिर 1981 में राष्ट्रीय अभियान समिति क़ायम करना तक शामिल है : साथ ही, औद्योगिक एवं अन्य मंचों पर संयुक्त कार्रवाइयाँ भी इनमें शामिल हैं।

—इस अवधि में आयोजित संयुक्त कार्रवाइयों ने मज़दूरों की **नयी मानसिकता** को रेखांकित किया है—और यह ऐसी मानसिकता है जो एकता एवं एकताबद्ध कार्रवाइयों की आकांक्षा को ही नहीं बल्कि **माँग को** भी व्यक्त करती है तथा जो ट्रेड यूनियन संबंधी, राजनीतिक तथा जन समस्याओं पर अत्यन्त जुझारू एवं व्यापक कार्रवाइयों के लिए, जहाँ-जहाँ और जब-जब भी यह एकता क़ायम हो जाती है प्रस्तुत है।

—एकता तथा एकताबद्ध कार्रवाई की बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित में प्रतिबिंबित होती हैं :

—राष्ट्रीय अभियान समिति, केन्द्रीय संगठनों तथा राष्ट्रीय औद्योगिक महासंघों से जुड़ी ट्रेड यूनियनों के व्यापक एवं एकताबद्ध मंच के रूप में उभरी है, जिसका उद्देश्य विभिन्न विचारधारात्मक, राजनीतिक एवं व्यावहारिक मतभेदों के बावजूद सहमति वाले मुद्दों पर कार्रवाई करना है।

—सार्वजनिक क्षेत्र की यूनियनों की एक संयुक्त समिति क़ायम हो गयी है जो निजीकरण के तमाम प्रस्तावों का डटकर मुक़ाबला करती है और जो सार्वजनिक क्षेत्र के और अधिक विस्तार तथा सार्वजनिक क्षेत्र के मज़दूरों के हितों की रक्षा से प्रतिबद्ध है। विश्व शांति एवं निःशस्त्रीकरण, रंगभेद विरोधी संघर्ष को समर्थन, राष्ट्रीय अखंडता को समर्थन तथा अलगाववादी एवं सांप्रदायिक शक्तियों के विरोध के मुद्दों पर इंटक समेत एक संयुक्त मंच गठित किया गया है। यह सही है,

कि इस मंच को स्थिति की ज़रूरतों के मुताबिक़ सक्रिय बनाना अभी भी बाक़ी है। पर इन तात्कालिक मुद्दों पर सक्रियता 'अपने आप' नहीं आ जायेगी, इसे स्वतःस्फूर्ति पर छोड़ा भी नहीं जा सकता। इसके लिए प्रमुख ट्रेड यूनियन केन्द्रों के नेतृत्व द्वारा सचेतन और दृढ़ संकल्प से उपजे प्रयासों की ज़रूरत है।

—यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उपरोक्त घटनाक्रम को संभव बनाने की दृष्टि से तथा साथ ही, मज़दूरों की वर्ग-चेतना को सुदृढ़ करने में तथा भारतीय राजनीति में मज़दूर वर्ग की भूमिका को बढ़ाने में सहायक बहुत से मुद्दों पर एटक तथा सीटू साथ मिलकर चले हैं। इस क्रम में मई दिवस शताब्दी तथा अगले वर्ष का मई दिवस मनाने का एक संयुक्त आह्वान करने की दृष्टि से एटक तथा सीटू साथ आये। दोनों ही संगठन 1 सितंबर को विश्व ट्रेड यूनियन महा-संघ के आह्वान पर युद्ध-विरोधी दिवस मनाते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर रैलियाँ एवं प्रदर्शन दोनों केन्द्रों द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित किये जाते हैं।

—ट्रेड यूनियन एकता के विकास में एटक तथा सीटू द्वारा अदा की गयी नेतृत्वकारी भूमिका एक निर्णायक कारक रही है। यह कहने का अर्थ अन्य ट्रेड यूनियन केन्द्रों एवं संगठनों की सकारात्मक भूमिका को कम करके आँकना नहीं है, हालाँकि उनमें से कई (उदाहरण के लिए भारतीय मज़दूर संघ) को कई मुद्दों पर गंभीर आपत्तियाँ तथा असहमतियाँ भी हैं। किन्तु अनुभव बतलाता है कि अन्य वामपंथी नेतृत्व वाले केन्द्रों के समर्थन से एटक तथा सीटू द्वारा किये गये प्रयासों को ही इस बात का श्रेय जाता है कि एकता प्रस्तावों को दिशा मिल सकी, जुझारू-पन एवं आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त हो सकी तथा नीति एवं राष्ट्रीय जीवन से संबंधित मुद्दों पर ट्रेड यूनियन आंदोलन राजनीतिक एवं जनसंघर्षों की बुलंदियों तक पहुँच सका। दोनों ही केन्द्र अधिकाधिक मुद्दों तथा नीति संबंधी प्रश्नों की समझ के लिहाज़ से एक-दूसरे के अधिक निकट आ गये हैं। उनकी दृष्टि कमोबेश एक जैसी है। आज पहले कभी से अधिक वह वस्तुगत आधार उपलब्ध हैं। जहाँ ये दोनों संगठन मिलकर काम कर सकते हैं। कुछ मतभेद अभी भी बने हुए हैं। यदाकदा वे तीक्ष्ण विवादों में भी बदल जाते हैं। चाहे इन दोनों संगठनों के संदर्भ में अथवा अन्य के संदर्भ में यह बात कही जा सकती है कि अतीत के पूर्वाग्रह तथा प्रतिद्वन्द्विताएँ, जो अक्सर वर्तमान तक खिंच आते हैं, स्वतः ही लुप्त नहीं हो जाएँगे। उन पर सचेतन रूप से क़ाबू पाया जाना है। जो भी हो, मतभेद तथा विवाद प्राथमिक नहीं हैं।

—इस वस्तुगत आधार तथा समझ के अनुरूप एटक ने बढ़ती हुई अनुकूल एकता समर्थक परिस्थितियों का स्वागत करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया है कि अब समय आ गया है जब समान विचारधारा वाली समस्त वामपंथी एवं सामा-जिक दृष्टि से प्रगतिशील ट्रेड यूनियनों की घनिष्ठ एकता पर आधारित वर्गीय

एवं राजनीतिक चेतना के गुणात्मक रूप से उच्चतर स्तर को उभारा जाना चाहिए। और इसका सर्वप्रमुख अर्थ यह होना चाहिए कि एटक और सीटू के बीच विभिन्न स्तरों पर अधिक गहरी समझ तथा सहमेल विकसित हो। इसका उद्देश्य, लक्ष्य एवं संकल्प एवं कर्म की दृष्टि से घनिष्ठता, निकट सांगठनिक एकता की ओर बढ़ना तथा अंततः एक शक्तिशाली ट्रेड यूनियन केन्द्र निर्मित करना है।

—एटक द्वारा प्रस्तावित निम्न सिद्धांतों की स्वीकृति सभी यूनियनों तथा फ़ैडरेशनों की एकता का आधार बन सकती है :

(1) वर्ग सहयोग के विपरीत वर्ग-संघर्ष।
(2) धर्म-निरपेक्षता एवं राष्ट्रीय एकता।
(3) शांति और साम्राज्यवाद-विरोध।
(4) समाजवाद तथा अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग की एक जुटता से प्राप्त लाभों की रक्षा।

—सीटू ने अपनी ओर से परिसंघ (कनफ़ैडरेशन) का प्रस्ताव रखा है। एकता की तलाश में न तो कोई 'आखिरी शब्द' होता है और न कोई बना-बनाया, अनमनीय सूत्र (फ़ार्मूला) होता है। जैसाकि एटक के महामंत्री ने बडोदरा अधिवेशन में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में कहा था, "हम समान सोच की शक्तियों के बीच ट्रेड यूनियन एकता के उद्देश्य को आगे बढ़ाने वाले ठोस सुझावों पर, भाईचारे की भावना से विचार-विमर्श करने के लिए बैठने को तैयार हैं।"

—मुख्य बात पहल करने, एकीकरण की प्रक्रिया को शुरू करने वाले यथासंभव फलदायी व व्यावहारिक क़दमों के बारे में समझ विकसित करने तथा इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने की है, ताकि ट्रेड यूनियन आंदोलन के भीतर—ख़ासकर वामपंथी नेतृत्व वाली ट्रेड यूनियनों के भीतर आए बिखराव को—पड़ी दरारों को समाप्त किया जा सके।

—वामपंथी नेतृत्व वाले ट्रेड यूनियन केंद्रों ख़ासकर सीटू एवं एटक की एकता का ट्रेड यूनियन आंदोलन की व्यापक एकता से न तो कोई विरोध है और न ऐसा प्रस्तुत किया जाना चाहिए। बल्कि इसे तो एकता की प्रक्रिया को तेज़ करने तथा इस प्रक्रिया को प्रभावित करने व नेतृत्व देने के साधन के रूप में ही देखा जाना चाहिए। इस बीच व्यापक एकता तथा एकताबद्ध कार्रवाइयों को बढ़ाने के तथा विभिन्न संयुक्त मंचों को सुदृढ़ बनाने के चौतरफ़ा प्रयत्न जारी रहने चाहिए।

—राष्ट्रीय अभियान समिति को मज़दूरों को प्रभावित करने वाली सभी मुद्दों पर सक्रिय किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय अभियान समिति के भीतर निर्णय करने तथा उन्हें लागू करने की प्रक्रियाओं में औद्योगिक महासंघों की भागीदारी को विकसित किया जाना चाहिए ताकि इस तरह का कोई भाव नहीं रहे कि उन्हें तरजीह नहीं दी जा रही।

—राष्ट्रीय अभियान समिति के आह्वानों को पूरी तरह लागू किया जाना चाहिए। सार्वजनिक क्षेत्र की यूनियनों की समिति को सुदृढ़ किया जाना चाहिए। जहाँ भी ज़रूरी हो, ट्रेड यूनियनों की स्थानीय अथवा क्षेत्रीय समन्वय समितियाँ तथा संयुक्त कार्रवाई समितियाँ गठित की जानी चाहिए।

—जहाँ भी ख़ास मुद्दों की माँग हो, इंटक तथा अन्य स्वतंत्र यूनियनों अथवा केंद्रों को भी सम्मिलित करके व्यापक संयुक्त मंच तथा संयुक्त कार्रवाई संगठित की जानी चाहिए।

—ऊपर वर्णित कामों को सफलतापूर्वक अंजाम देने की कुंजी शक्तिशाली यूनियनें निर्मित करने में निहित हैं, जो जनवादी ढंग से काम करती हों—ट्रेड यूनियन क्रियाकलाप में अधिकाधिक मज़दूरों को शामिल करने तथा एटक को शक्तिशाली बनाने के अर्थ में। 'स्वतंत्र कार्रवाइयों तथा 'संयुक्त कार्रवाइयों' अथवा 'एटक को शक्तिशाली बनाने' तथा विभिन्न ट्रेड यूनियन केंद्रों के बीच 'एकता क़ायम करने' के बीच कोई विरोध नहीं है ये दोनों कार्यभार परस्पर एक-दूसरे को काटते नहीं हैं। ये अंतर्संबंधित हैं। इन्हें एकीकृत किया जाना चाहिए।

—जहाँ ख़ास मुद्दों पर सुधारवादियों के नेतृत्व वाली यूनियनों के साथ भी साझी कार्रवाइयाँ विकसित करना आवश्यक है, वहाँ सुधारवाद की प्रवृत्ति से राजनीतिक तथा विचारधारात्मक एवं व्यावहारिक अनुभव के आधार पर संघर्ष किया जाना भी आवश्यक है। इसी से अपने पीछे के मज़दूरों को यह समझा पाना संभव होगा कि क्रांतिकारी ट्रेड यूनियनवाद क्या है, और इसी से उनका समर्थन भी पाया जा सकेगा। सुधारवाद के समय संघर्ष में हमें संकीर्णतावादी भूलों से बचना चाहिए, जनता का विश्वास प्राप्त करने वाले 'नेताओं' के प्रति दोस्ताना रुख़ अपनाना चाहिए, कभी भी 'नेताओं' तथा आम सदस्यों को गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिए तथा जीवन के अनुभवों के ज़रिये आम सदस्यों को अपनी बात समझाने के लिए आवश्यक धैर्य रखना चाहिए।

—'एक उद्योग के लिए एक राष्ट्रीय फ़ैडरेशन' के नारे के आधार पर राष्ट्रीय औद्योगिक स्तर पर सभी यूनियनों को साथ लाना एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण क़दम है। इसमें एक उद्योग के भीतर काम करने वाले तथा समान समस्याओं का सामना करने वाले मज़दूरों की आकाँक्षा प्रतिबिंबित होती है जो काम तथा सेवा शर्तों के समान मानदंडों की कामना करते हैं। मौजूदा प्रतिद्वंद्वी औद्योगिक फ़ैडरेशनों को संयुक्त कार्रवाइयों में लाने तथा अंततः उनमें से कुछ का विलय करने के प्रयास किए जाने चाहिए। शुरुआत उन फ़ैडरेशनों से की जा सकती है जहाँ सफलता मिलना कुछ आसान हो। आज भी, केंद्रीय ट्रेड यूनियनों की बहुलता के बावजूद बहुत-सी शक्तियाँ अनेक साझे फ़ैडरेशनों तथा यूनियनों में मिलकर काम करती हैं। इससे यह तो ज़ाहिर हो ही जाता है कि इस लिहाज़ से

काफ़ी अनुभव उपलब्ध है।

—'एक उपक्रम में एक यूनियन' के नारे को ट्रेड यूनियन एकता के लक्ष्य के रूप में आम सदस्यों के स्तर पर प्रचारित किया जाना चाहिए, चाहे इसे तात्कालिक रूप से क्रियान्वित न भी किया जा सके। इस तथ्य को नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता कि मज़दूर अनेक यूनियनों के अस्तित्व में होने से तंग आ चुके हैं। साथ ही अनेक यूनियनों की परंपराओं से—जहाँ सभी प्रवृत्तियाँ साथ मिलकर काम करती हैं, चुनाव जनवादी तरीक़े से तथा नियमित होते हैं—काफ़ी कुछ सीखा जा सकता है। ऐसे स्थानों पर हमें यूनियनों की बहुलता दिखाई नहीं पड़ती।

—प्रतिद्वंद्विताएँ समाप्त करने के लिए, एक-दूसरे की जड़ें काटना समाप्त करने के लिए, तथा जनवादी कामकाज सुनिश्चित करने के लिए एक आचार-संहिता तैयार करने के संदर्भ में विचार-विमर्श शुरू किया जाना चाहिए। इसमें साझे काम में आने वाली अड़चनों को दूर करना तथा मारपीट की घटनाओं को ख़त्म करना भी शामिल होना चाहिए।

—ट्रेड यूनियन एकता क़ायम करने का अर्थ किन्हीं मौजूदा यूनियनों को साझी कार्रवाई के मंच पर अथवा एक ही संगठन के भीतर ले आना मात्र नहीं है। इसका अर्थ है मज़दूर समुदाय को सामाजिक प्रगति एवं परिवर्तन की शक्ति के रूप में संघर्ष में उतारना। इसके लिए सघन चौतरफ़ा प्रयासों—विचारधारात्मक सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक—की ज़रूरत है ताकि जाति, समुदाय, धर्म तथा नस्ल-संबंधी विभाजक तत्वों के ख़िलाफ़ संघर्ष किया जा सके और मज़दूरों की चेतना को एक वर्ग के रूप में ऊपर उठाया जा सके। शांति की रक्षा, पराराष्ट्रीय निगमों तथा साम्राज्यवाद की कारगुज़ारियों के ख़िलाफ़ स्वतंत्रता एवं समाजवाद के पक्ष में चल रहे संघर्ष में ट्रेड यूनियन एकता तथा वर्गीय एकजुटता के अंतर्राष्ट्रीय आयामों को भी लगातार ध्यान में रखा जाना चाहिए।

—एकता के लिए संघर्ष इस प्रकार एक काफ़ी जटिल काम है। यह धैर्य एवं लगन की माँग करता है। इसका रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा है जिससे जगह-जगह मोड़ और घुमाव आते हैं। वास्तविक जीवन में एकता की जोर-शोर से चर्चा के साथ कभी-कभी वास्तव में तोड़-फोड़ की कार्रवाई भी देखने को मिल जाती है : 'सर्वोच्च स्तर' पर क़ायम एकता 'स्थानीय स्तरों' पर दुश्मनी व तोड़-फोड़ को जन्म दे देती है। संयुक्त कार्रवाइयों में भी कई बार 'नहले पर दहला मारने' तथा ख़ुद को सबसे ऊपर दिखाने के प्रयास भी किए जाते हैं। मौजूदा हालात के चलते यूनियनों पर 'कब्ज़ा करने' तथा जहाँ अन्य यूनियनें पहले से हैं वहाँ अपनी 'ख़ुद की यूनियन' क़ायम करने के प्रयासों से पूरी तरह इनकार कर पाना आसान नहीं है।

—एटक की यूनियनों तथा सदस्यों को, यदि वे अपने काम के बारे में गंभीर हैं, सजग और चौकस रहना होगा, तोड़-फोड़ तथा टुच्ची हरक़तों से दूर रहना

होगा तथा हमेशा और सभी परिस्थितियों में एकता क़ायम करने के उद्देश्य को अपने ध्यान तथा क्रियाकलाप के केन्द्र में रखना होगा। बिखराव की स्थिति पर क़ाबू पाने के लिए तथा एकता व एकताबद्ध कार्रवाई के पक्ष में सब-कुछ किया जाना चाहिए। ट्रेड यूनियन एकता का आह्वान कोई घिसा-पिटा नारा नहीं है। यह दूसरों की गोटी पीटने के लिए अपनाए जाने वाली कार्य-नीतिक मुक्ति नहीं है। यह तो मज़दूर वर्ग के लिए अत्यन्त महत्व का प्रश्न है।

ज़रूर पढ़ें :

1. महामंत्री की रिपोर्ट : एटक का तैंतीसवाँ अधिवेशन
2. ट्रेड यूनियन एकता आयोग की रिपोर्ट
3. महामंत्री की रिपोर्ट, विश्व ट्रेड यूनियन फ़ैडरेशन : ग्यारहवीं कांग्रेस।

पाठ : 29

आज की दुनिया में मज़दूर वर्ग की भूमिका

—पहले के एक पाठ में हम अंतर्राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन आंदोलन के इतिहास एवं विकास के बारे में चर्चा कर चुके हैं।

—डेढ़ सौ साल पुराने मज़दूर वर्ग के आंदोलन ने इतिहास की धारा को बदल दिया है, दुनिया का कायापलट कर दिया है, मज़दूर वर्ग की सत्ता वाली एक नई दुनिया को जन्म दिया है जहाँ सामाजिक प्रगति शांति एवं न्याय की स्थापना, शोषण की समाप्ति के लिए संघर्ष करने वालों की सभी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पीढ़ियों के विचारों, लक्ष्यों तथा आशाओं को व्यवहार में मूर्त रूप दे दिया गया है।

दुनिया के सभी देशों में मज़दूरों के शक्तिशाली ट्रेड यूनियन एवं राजनीतिक संगठन क़ायम हुए हैं। इन देशों के सामाजिक जीवन में मज़दूर वर्ग का प्रभाव तथा उसकी भूमिका, उसकी संख्या द्वारा प्रदर्शित शक्ति से कहीं अधिक है।

बार-बार यह क्रांतिकारी सत्य सिद्ध हो चुका है कि आज की दुनिया में सामाजिक प्रगति की प्रमुख दिशा को निर्धारित करने वाली अग्रणी शक्ति तथा प्रमुख तत्व मज़दूर वर्ग ही है। इसकी भूमिका का दर्जा घटाने तथा इसके ऐतिहासिक उद्देश्य से इनकार करने के प्रयास बार-बार किए गए हैं। पर हर बार स्वयं घटनाओं ने ही इसे झुठला दिया है। और अब फिर, जब हम बीसवीं शताब्दी के अंत के निकट पहुँच रहे हैं तथा इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश करने की तैयारी कर रहे हैं, नए सिरे से सवाल खड़े किए जा रहे हैं : क्या अभी भी मज़दूर वर्ग सबसे अधिक क्रांतिकारी शक्ति बना हुआ है? क्या नई स्थिति में इसकी कोई भी भूमिका है? वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति के युग में इसकी ऐतिहासिक नियति क्या है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले के दशकों में इसकी जो भूमिका रही है उसे संक्षेप में दोहरा लिया जाय।

—मार्च 1871 में पेरिस कम्यून की स्थापना के साथ इतिहास में सबसे पहले सर्वहारा राज्य का उदय हुआ था। पेरिस के मज़दूरों के वर्गीय दृष्टिकोण में

जर्मन सैन्यवाद तथा फ्रांसीसी पूँजीपति वर्ग के विश्वासघात के ख़िलाफ़ फ्रांसीसी जनता की सही मायने में देशभक्तिपूर्ण माँग भी संयोजित थी। यह कोई ऐतिहासिक गप्प नहीं है। 18 मार्च, 1871 को 'कम्यून के अधिकृत पत्र' में निम्नलिखित प्रकाशित हुआ था :

"पेरिस के सर्वहाराओं को, शासक वर्गों की असफलताओं एवं विश्वासघातों के बीच यह समझ में आ गया है कि सार्वजनिक मामलों की दिशा को अपने हाथों में लेकर स्थिति को बचाने की घड़ी आ गई है।"

—कम्यून ख़ून में डुबो दिया गया था। फिर भी कुछ साल बाद, 14 जुलाई, 1889 को अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर कांग्रेस ने 1 मई, 1890 से दुनिया भर के पैमाने पर 1 मई का दिन मनाने का आह्वान किया। इस निर्देश ने मई 1886 के शिकागों प्रदर्शनों को अमर कर दिया तथा इसे अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग की एकजुटता का दिन बना दिया।

—1917 में लेनिन के नेतृत्व में महान अक्तूबर क्रांति ने पहले विजयी सर्वहारा राज्य की नींव डाली। 27वीं कांग्रेस में स्वीकृत सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम में इस घटना का सार निम्न शब्दों में व्यक्त किया गया है :

"अक्तूबर 1917 में मज़दूर वर्ग ने राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में ले ली। इतिहास में पहली बार मज़दूरों तथा किसानों के राज्य का जन्म हुआ। **नई के निर्माण की शुरुआत हुई**।"

हम अब उसकी 70वीं सालगिरह मनाने ही वाले हैं।

—वियतनामी क्रांति में मज़दूर वर्ग की भूमिका का मूल्यांकन करते हुए हो ची-मिन्ह ने लिखा :

"मज़दूर वर्ग सबसे अधिक साहसी एवं क्रांतिकारी वर्ग है जो साम्राज्यवादियों तथा उपनिवेशवादियों का अडिग तथा निडर रहकर सामना करता है। हरावल क्रांतिकारी सिद्धांत तथा अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा आंदोलन के अनुभव से लैस हमारे मज़दूर वर्ग ने स्वयं को सबसे अधिक योग्य एवं विश्वसनीय नेता के रूप में सिद्ध कर दिया है।"

—दिसम्बर 1939 में, चीनी क्रांति के बारे में लिखते हुए माओ ज़ेदुंग ने कहा था :

"चीनी सर्वहारा वर्ग कई न टाली जा सकने वाली कमज़रियों के बावजूद अपने छोटे आकार (किसानों की तुलना में), अपने युवा वर्ग (पूँजीवादी देशों के सर्वहारा वर्ग की तुलना में) तथा अपने निम्न शैक्षिक स्तर (पूँजीपति वर्ग की तुलना में) चीनी क्रांति की मूलभूत प्रेरक शक्ति बना हुआ है।"

बाद में, क्रांति की विजय के बाद 1956 में ल्यू शाओ ची ने चीनी कम्युनिस्ट

पार्टी की आठवीं कांग्रेस में अपनी रिपोर्ट मे कहा : "यदि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के बग़ैर, हमारे किसान तथा राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग पूँजीवादी-जनवादी क्रांति की अवस्था में भी जीत हासिल नहीं कर पाए, तो फिर सर्वहारा वर्ग के अलावा कौन-सी ऐसी शक्ति है जो कि समाजवादी क्रांति की अवस्था में नेतृत्व सम्हालने की ज़िम्मेदारी ले सकने में समर्थ हो ?"

—और फ़िदेल कास्त्रो क्यूबाई क्रांति के ऐतिहासिक अनुभव को इस तरह देखते हैं, वह कहते हैं :

"अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग की अजेय शक्ति के बल पर ही हमारा छोटा-सा देश उस भयानक ख़तरे का सामना कर पाया जो अमरीका की राजनीतिक, आर्थिक तथा सैन्य ताक़त से पैदा हुआ था। और इस बात का श्रेय मज़दूर वर्ग की रण-नीति, सिद्धांतों एवं विचारधारा को तथा हरावल के रूप में उस वर्ग को ही जाता है कि हमारी क्रांति देश की निर्णायक राष्ट्रीय मुक्ति तथा सामाजिक विमुक्ति तक बढ़ पाने में सक्षम हुई···

"किसानों तथा जनता के अन्य ग़रीब हिस्सों से जुड़े हुए क्रांतिकारी वर्ग के रूप में उसे इस प्रक्रिया (क्रांति का समाजवादी रूपांतरण) का निर्विवाद हरावल बनना था।"

—इन देशों में सम्पन्न हुई क्रांतियों के ये अधिकृत स्वर हैं। प्रत्येक मामले में क्रांति रूप एवं चरित्र की दृष्टि से अनूठी थी। प्रत्येक देश की जातीय विशेषताओं तथा अलग-अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित रूपों एवं कार्य-नीतियों को अपनाकर क्रांतियाँ अलग-अलग रास्तों से होकर विजय की मंज़िल तक पहुँचीं। फिर भी, बिना किसी अपवाद के उसकी सफलता मज़दूर वर्ग द्वारा अदा की गई भूमिका में ही निहित थी।

—अतीत के बारे में इतना ही काफ़ी है लेकिन अब क्या हालात हैं ? क्या ख़ुद मज़दूर वर्ग विखंडित, क्षीण होकर गिरावट की ओर अग्रसर नहीं है ? क्या इसका स्थान अन्य शक्तियाँ नहीं ले रही हैं जो सामाजिक प्रगति में निर्णायक भूमिकाएँ अदा कर रही हैं। हम पहले मज़दूर वर्ग जोकि मेहनतकश आबादी, मज़दूरी कमाने वालों की फ़ौज का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है, की संख्यात्मक शक्ति के आँकड़ों पर नजर डाल लें :

	1950 के दशक से	1980 के दशक तक	वृद्धि का प्रतिशत
समाजवादी देश	6 करोड़ 60 लाख	20 करोड़ 20 लाख	206 प्रतिशत
औद्योगिक पूँजीवादी देश	13 करोड़ 70 लाख	24 करोड़ 10 लाख	76 प्रतिशत
स्वतंत्र देश	7 करोड़ 90 लाख	21 करोड़ 70 लाख	174.7 प्रतिशत
	28 करोड़ 20 लाख	66 करोड़	134 प्रतिशत

यहाँ हम जो देख रहे हैं वह देशों के प्रत्येक समूह में 'गिरावट' न होकर 'बढ़ोतरी' ही है, पर यह समाजवादी देशों तथा विकास का रास्ता अपनाने वाले स्वतंत्र देशों में अधिक मुखर रूप से व्यक्त हुई है। तीसरी दुनिया के अल्पविकसित देशों के पास विशाल मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधन हैं किंतु आर्थिक का स्तर नीचा होने के कारण रोज़ी कमाने वालों की संख्या समूची तीसरी दुनिया की मेहनतकश आबादी का कुल चालीस प्रतिशत है। रोज़गार की समस्या भी अत्यंत विकट है।

मज़दूर वर्ग की शक्तियाँ सभी महाद्वीपों में दुनिया के सभी प्रमुख क्षेत्रों में बँटी हुई हैं। सत्तर के दशक के मध्य के आँकड़े निम्नलिखित वितरण दर्शाते हैं :

समाजवादी देश	16 करोड़
पश्चिमी यूरोप	10 करोड़ 50 लाख
उत्तरी अमरीका	लगभग 7 करोड़
जापान एवं समुद्रीय क्षेत्र	लगभग 3 करोड़ 50 लाख
आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैंड	लगभग 50 लाख
लेटिन अमरीका	लगभग 5 करोड़
एशिया (ग़ैर-समाजवादी)	10 करोड़ से अधिक
अफ्रीका	लगभग 2 करोड़
	54 करोड़ 50 लाख

1. स्रोत : 'मज़दूर वर्ग एवं सामाजिक प्रगति', तिमोफ़ेयेव

—इस अवधि में, खासकर पिछले दशक में, एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका के नवस्वतंत्र देशों में मज़दूर वर्ग के संघटन का स्तर काफ़ी बढ़ा है। ट्रेड यूनियनों तथा संघों का जन्म हुआ है और राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय केंद्र सुदृढ़ हुए हैं। यह बढ़ोतरी समाजवादी देशों में मज़दूर वर्ग तथा इसके संघटन में हुई तेज़ बढ़ोतरी के साथ विश्व ट्रेड यूनियन फ़ैडरेशन से संबद्ध सदस्यों की संख्या में भी प्रतिबिंबित होती है। 1945 से इसकी स्थापना के समय 56 देशों में इसके कुल सदस्यों की संख्या 6 करोड़ 70 लाख की जो 1986 में इसके 11वीं कांग्रेस के समय बढ़कर 138 देशों में 21 करोड़ 40 लाख हो गयी। फ़ैडरेशन की सदस्यता सभी महाद्वीपों तथा सभी समाज व्यवस्थाओं में है। इसकी 11वीं कांग्रेस में जिन संभागियों ने भाग लिया था वे 432 ट्रेड यूनियन संगठनों से जुड़े (संबद्धता के भेद से ऊपर उठकर) 29 करोड़ 60 लाख सदस्यों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर फ़ौज की बढ़ती हुई शक्ति का यह सटीक प्रमाण है।

—तो फिर इस प्रचार का क्या आधार है कि मज़दूर वर्ग की शक्ति में गिरावट आ रही है! दरअसल, यह इस अवांछित धारणा पर आधारित है कि केवल औद्योगिक मज़दूर ही, और वह भी वे जोकि अधिकांशतः शारीरिक श्रम में संलग्न

हैं, मोटे तौर पर मज़दूर वर्ग का अंग होते हैं। यह सच है कि नई प्रौद्योगिकी के प्रवर्तन के परिणामस्वरूप उनकी शक्ति में सापेक्ष गिरावट आयी है। किंतु यह धारणा अपने आप में एकदम ग़लत है। प्रौद्योगिक क्रांति के प्रभाव के तहत मज़दूर वर्ग की बदलती हुई संरचना ने ऊँची योग्यता व कुशलता प्राप्त इंजीनियरों, वैज्ञानिकों तथा तकनीकी विशेषज्ञों को सामने लाकर खड़ा कर दिया है। वे उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्षतः भागीदारी निभाते हैं, यह दूसरी बात है कि वे साथ ही देख-रेख की तथा प्रबंधकीय ज़िम्मेदारियाँ भी निभाते हैं। कार्यशालाओं के मज़दूरों की पाँतों से अत्यंत कुशल अधिकारी एवं प्रचालक—"एक विशेष प्रकार के मज़दूर"[1] उभर कर आए हैं जोकि मज़दूर वर्ग के उदीयमान तकनीकी बुद्धिजीवी वर्ग के तत्त्व हैं। इंजीनियरों तथा तकनीकी विशेषज्ञों तथा मज़दूरों के बीच की खाई एकदम सँकरी होती जा रही है तथा वे भी संगठन एवं संघर्ष के उन रूपों को अधिकाधिक अपनाते जा रहे हैं जोकि ट्रेड यूनियन आंदोलन के विशिष्ट लक्षण माने जाते हैं। यह सही है कि इंजीनियरी संस्तर के सामाजिक मनोविज्ञान में विरोधी खिंचाव तथा प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। आत्मगत रूप से उनमें से कुछ तो शिखर पर पहुँचकर संपत्तिशाली वर्ग में जा मिलने का सपना देखते हैं, तथा कुछ ऐसा करने में सफ़ल भी हो जाते हैं लेकिन समूह के रूप में वे पूँजीवादी प्रबंधन एवं राज्य के ख़िलाफ़ संघर्ष के रास्ते पर चलने को विवश हो जाते हैं। यह प्रक्रिया सीधी नहीं चलती इसलिए हम उन्हें हर जगह सर्वहारा दृष्टिकोण एवं आंदोलन से अपने आपको जोड़ते हुए नहीं देखते। लेनिन ने उन्हें 'इंजीनियरी सर्वहारा' की संज्ञा दी थी। इस तरह तो, जैसा लेनिन ने रेखांकित किया था, "मज़दूर वर्ग भी अधिक विकसित तथा कम विकसित संस्तरों में विभाजित होता है", तथा पूँजीवाद की परिस्थितियों के तहत वह "भानुमती के पिटारों से घिरा होता है"[2] पर क्या इस तथ्य से इस निष्कर्ष को उचित ठहराया जा सकता है कि मज़दूर वर्ग में गिरावट आ रही है?

—वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति, तथा सेवा एवं संचार उद्योगों और वाणिज्य के क्षेत्रों में प्रगति ने तथाकथित 'सफ़ेद कॉलर' कर्मचारियों का एक विशाल समुदाय पैदा किया है जिसे 'नीले कॉलर' मज़दूरों के विपरीत खड़ा किया जाता है। वे समाजशास्त्री जो मज़दूर वर्ग में गिरावट देखने पर तुले हैं इनको एक विशेष 'नए मध्य वर्ग', 'मध्यवर्ती संस्तर' के रूप में—यानि जो मज़दूर वर्ग से अलग है—देखने के अभ्यस्त हो चुके हैं। पर क्या ऐसा करने का कोई औचित्य है? यह सच है कि मशीनों पर काम करने वाले मज़दूरों तथा कुछ 'सफ़ेद कॉलर'

---

1. कार्ल मार्क्स : पूँजी, खंड 1, पृ० 332
2. लेनिन, 'वामपंथी कम्युनिज़्म', संकलित रचनाएँ, खंड 31, पृ० 74

हिस्सों के मध्य कुछ संकीर्णतावादी प्रवृत्तियाँ—सफ़ेद कॉलर वाले कुछ लोग अपने आपको मज़दूर वर्ग से अलग तथा भिन्न, 'बाबुओं' के रूप में देखते हैं। पर हमारे भारतीय अनुभव में यह फ़र्क़ बहुत पहले समाप्त हो गया था जिसका श्रेय बैंक एवं बीमा कर्मचारियों, केंद्र एवं राज्य सरकारी कर्मचारियों, वाणिज्यिक कर्मचारियों आदि के तेज़ी से विकसित हुए संगठन एवं आंदोलन को जाता है। अपनी उग्र कार्रवाइयों, हड़तालों तथा प्रदर्शनों आदि के ज़रिए तथा आम ट्रेड यूनियन आंदोलन से निकट जुड़ाव के ज़रिए इन हिस्सों ने तो जैसे पहले ही 'घोषित कर दिया है' कि वे मज़दूर वर्ग के अंग हैं।

—संक्षेप में, हालाँकि मज़दूर वर्ग कई मायनों में बदल गया है, पर उसका **सार-तत्व** नहीं बदला है।

—लेनिन सवाल यह किया जा सकता है कि क्या ये हिस्से सर्वहारापन खोते नहीं जा रहे हैं तथा अपनी आर्थिक परिस्थितियों को सुधारने व उनकी रक्षा करने में ही अधिक संलग्न नहीं हैं? तथ्य यह बतलाते हैं कि ट्रेड यूनियन तथा मज़दूर आंदोलन समूचे समुदाय तथा राष्ट्र की ओर से अधिकाधिक बोलने लगे हैं तथा ऐसे उद्देश्यों को अपना रहे हैं जिनका सरोकार मानव जाति के भविष्य से है। यह भी हमारा भारतीय अनुभव ही है, हालाँकि कुछ समय के लिए, अपनी अंदरूनी कमज़ोरियों की वजह से मज़दूर वर्ग इस मामले में अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा पाया। फिर भी कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं।

—ट्रेड यूनियनों में संगठित मज़दूर विश्वशांति एवं नाभिकीय निःशस्त्रीकरण के पक्ष में तथा हथियारों की होड़ ख़त्म करने के संघर्ष में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। भारत में, व्यापक शांति आंदोलन में सम्मिलित होने के अलावा, इस मुद्दे पर मज़दूरों ने अपने बूते पर आगे बढ़ना शुरू कर दिया है—इसके उदाहरण के रूप में एक सितंबर को 'युद्ध विरोधी दिवस' के मौक़े पर समूचे देश में ट्रेड यूनियनों द्वारा की गयी लामबंदी को देखा जा सकता है। इसे और भी आगे बढ़ाये जाने की ज़रूरत है—यानि एक बेहतर ज़िंदगी के लिए मज़दूरों के संघर्ष को शांति एवं निःशस्त्रीकरण के लिए संघर्ष के साथ जोड़े जाने की ज़रूरत है।

—मज़दूर वर्ग राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों तथा रंगभेद के ख़िलाफ़ संघर्ष को सक्रिय रूप से समर्थन दे रहा है भारत में केंद्रीय ट्रेड यूनियनें (इंटक समेत) इस मुद्दे पर आगे बढ़ने लगी हैं तथा रंगभेद-शासन के ख़िलाफ़ संघर्ष में योगदान करने के लिए धनराशि भी इकट्ठा करने लगी हैं।

—ट्रेड यूनियनें सभी जगह जनवादी अधिकारों की रक्षा के संघर्ष में सक्रिय रूप से लगी हुई हैं। भारतीय ट्रेड यूनियन आंदोलन के बारे में भी यह सही है।

—ट्रेड यूनियनें साम्राज्यवाद के 'नवउपनिवेशी' हमले, विकासमान देशों पर अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक द्वारा शर्तें थोपे जाने तथा परराष्ट्रीय निगमों

की कारगुज़ारियों के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रही हैं। भारतीय ट्रेड यूनियनों ने 'आत्म-निर्भर' आर्थिक विकास को कमज़ोर करने वाले 'निजीकरण' अभियान तथा 'आर्थिक उदारतावाद' की नीतियों के ख़िलाफ़ कार्रवाइयाँ की हैं।

—बड़ी पूँजी तथा पूँजीवादी राज्य द्वारा वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक क्रांति की उपलब्धियों को अपने स्वयं के हित में तथा अंधाधुंध मुनाफ़े कमाने के लिए इस्तेमाल करने तथा आम जनता की तकलीफ़ों को बढ़ाने के प्रयासों का ट्रेड यूनियनें डटकर मुक़ाबला कर रही हैं। मज़दूर वर्ग देश के विकास की रणनीति के बारे में अपनी बात कहने की स्थिति में अधिकाधिक आता जा रहा है।

—भारत में ट्रेड यूनियनें राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता की रक्षा में मज़बूती से डटी हुई हैं। इसका एक शानदार उदाहरण पंजाब में अलगाववाद तथा आतंकवाद के ख़िलाफ़ और सांप्रदायिक सद्भाव के पक्ष में ट्रेड यूनियनों द्वारा अदा की जा रही भूमिका है।

—निस्संदेह इस समय जो कुछ भी किया जा रहा है उससे कहीं अधिक किये जाने की ज़रूरत है। इस मामले में आत्म-तुष्टि अथा अतिशयोक्ति के लिए कोई जगह नहीं है ख़ासकर इसलिए कि मज़दूर वर्ग अभी भी विभाजित बना हुआ है। जो भी हो, मज़दूर वर्ग तथा उसके संगठन सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष में प्रमुख भूमिका निभाने वाली अविचल सामाजिक शक्ति बने हुए हैं। इसका कारण जीवन तथा सामाजिक उत्पादन में इसका स्थान, इसकी संगठित सदस्य शक्ति, इसकी चेतना तथा क्रियाकलाप हैं, जो इसे समाज में राजनीतिक एवं नैतिक प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। राष्ट्रीय अभियान समिति तथा अन्य संयुक्त मोर्चों के तहत छेड़े गये कई संयुक्त संघर्षों में इसे प्रमाणित कर दिया। यदि समान एवं संयुक्त कार्रवाइयों के अनुभव के ज़रिये मज़दूर वर्ग की पाँतों के विभाजन पर काबू पाया जा सके तो आने वाले दिनों में मज़दूर वर्ग निश्चय ही अपनी अग्रणी तथा क्रांतिकारी भूमिका को प्रमाणित कर पायेगा।

—'युवा शक्ति' के संबंध में अक्सर ही जनोत्तेजक हवाले दिये जाते हैं। युवाओं को ख़ुश करने के लिए उन्हें सार्वजनिक क्रांतिकारी शक्ति, वर्गातीत शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जैसे कि वे तथाकथित 'प्रतिष्ठान' का सफ़ाया कर देंगे तथा उसके साथ ही उससे उत्पन्न चौतरफ़ा संकट, नैतिक पतन, भ्रष्टाचार आदि का भी सफ़ाया कर देंगे। स्वर्गीय संजय गांधी ने इस 'युवा शक्ति' को 'व्यावहारिक अभिव्यक्ति' दी थी तथा उसे संस्थाबद्ध करने का प्रयास किया था। आसाम में छात्रों की विजय ने इस सिद्धांत में नये सिरे से जान फूँक दी। इसे बुजुर्ग लोगों की गद्दी से चिपके रहने की हठधर्मिता (चाहे उससे देश पर एक के बाद दूसरी विपत्ति आये) इस सिद्धांत को खाद-पानी देने का काम करती है। धारणा यह है कि युवा वर्ग, अपने सामाजिक उद्भव एवं प्रेरणाओं से स्वतंत्र, उत्साही गतिशील

तथा 'स्वच्छ' होता है। यह ग़ैर वर्गीय दृष्टिकोण समय की कसौटी पर खरा नहीं उतरा है। युवा वर्ग भविष्य का निर्माता है। किंतु अनुभव बतलाता है कि जब युवा वर्ग की जड़ें मेहनतकश जनता के बीच नहीं होतीं, जब उसका अभिमुखीकरण मज़दूर वर्ग की ओर न हो तथा वह वैज्ञानिक समाजवाद से प्रतिबद्ध न हो तो वह घोर प्रतिक्रिया के हाथों में औज़ार का रूप भी धारण कर सकता है। उसे अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया तथा आंतरिक विभाजक शक्तियों द्वारा इस्तेमाल भी किया जा सकता है तथा युक्तिपूर्वक चलाया भी जा सकता है।

—ये दावे भी किये जा रहे हैं कि नया प्रौद्योगिक विकास तथा आर्थिक जीवन एवं प्रशासन की जटिलताएँ 'प्रौद्योगविदों' के 'अभिजात समूहों' के नेतृत्व की माँग करती है। यह कहा जाता है कि स्वयं मज़दूर वर्ग संरचना, शैक्षिक एवं तकनीकी कुशलता, व्यवहारवादी रुझानों तथा सामाजिक दृष्टि आदि की दृष्टि से आमूल परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा है, और इसलिए मौजूदा संदर्भ में पुराने वर्ग-विभाजनों तथा वर्ग-संघर्षों की कोई प्रासंगिकता नहीं रह गयी है। जबकि असलियत यह है कि हम वर्ग-संघर्षों के और अधिक तेज़ होने, मज़दूरों के विभिन्न हिस्सों तथा कुल मिलाकर मेहनतकश लोगों के जन-संघर्षों में उभार की स्थिति के साक्षी हैं, जोकि मजदूर किसान के सहयोग तथा सामाजिक संघर्षों में मजदूर वर्ग की अग्रणी भूमिका सुनिश्चित करने का वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है। मज़दूरों के सहयोगियों की पाँतों में वृद्धि हो रही है, संघर्ष का फ़लक विस्तृत हो रहा है, तथा मेहनतकशों के नये हिस्सों को अपनी ओर करने और सुदृढ़ करने, तथा उनके प्रति उपयुक्त नज़रिया व कार्यनीति विकसित करने का काम बेहद महत्वपूर्ण होता जा रहा है।

विभिन्न देशों में अनेक दस्तों को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की विविधता का सामना करना पड़ता है। विकासमान देशों में वे जिन समस्याओं का सामना कर रहे हैं वे विकसित देशों की समस्याओं से भिन्न हैं तथा समाजवादी देशों की समस्याओं से तो निश्चय ही भिन्न हैं। मज़दूर वर्ग उसकी बनावट व संरचना में आये परिवर्तनों के बावजूद हमारे युग का सर्वाधिक क्रांतिकारी वर्ग बना हुआ है। ऐसा क्यों है?

1. इसलिए क्योंकि सामूहिक रूप से संगठित होने व संघर्ष करने, जाति, धर्म, भाषा आदि की विविधताओं के बावजूद विशाल जन-समुदायों को एकताबद्ध करने, व्यक्तिगत एवं समूह के हितों को साझे हितों के अधीन करने की शक्ति एवं क्षमता से लैस केवल यही वर्ग है।
2. उत्पादन तथा सामाजिक जीवन की महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं में इसकी जो स्थिति है, वह बेहद महत्वपूर्ण है।
3. यह सबसे अधिक आगे की ओर देखने वाली सामाजिक शक्ति है जिसका

कारण यह तथ्य भी है कि यह सामाजिक उत्पादन के सर्वाधिक विकसित रूपों से घनिष्ठता के साथ जुड़ा हुआ है।

4. वर्ग-संघर्ष का जो मूलभूत तर्क है वह इसे तमाम तरह के शोषकों का मुक़ाबला करने तथा समानता, सामाजिक न्याय, जनवादी एवं मानव अधिकारों के आदर्शों का पक्षधर बनने को विवश करता है।

मज़दूर वर्ग कई मायनों में बदल गया है और यह अपरिहार्य भी था। पर उसका सारतत्व अभी भी वही है। मज़दूर चाहे सफ़ेद कॉलर वाला हो अथवा नीले कॉलर वाला, शारीरिक श्रम करता हो अथवा मानसिक श्रम करता हो, छोटे काम करता हो अथवा प्रौद्योगविद हो— जो भी रोज़ी कमाने वालों के रूप में अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन में संलग्न हैं, वे सब मज़दूर वर्ग के अंग हैं, तथा देर-सबेर मज़दूर वर्ग का रुख अपनाने को विवश होते हैं। यही कारण है कि आज की दुनिया में मज़दूर वर्ग की भूमिका में गिरावट आने के बजाय उसका विस्तार हो रहा है।

—पिछले दशकों के समान आज भी मज़दूर वर्ग सामाजिक प्रगति की अग्रणी शक्ति, समाज की सर्वाधिक क्रांतिकारी शक्ति तथा मौजूदा व्यवस्था के समाजवादी विकल्प का झंडाबरदार बना हुआ है। भारतीय ट्रेड यूनियन आन्दोलन को ऐतिहासिक लक्ष्य को ध्यान में रखकर आगे बढ़ना है।

□□